साहित्य-सुमन

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

साहित्य की अन्य उत्तमोत्तम पुस्तकें

विश्व-साहित्य ...
हिंदी-नवरत्न ...
मतिराम-ग्रंथावली ...
सूर-संग्रह ...
देव और बिहारी ...
बिहारी-रत्नाकर ...
हिंदी ...
मिश्रबंधु-विनोद प्र० भाग ...
भवभूति ...
सुकवि-संकीर्तन ...
प्राचीन पंडित और कवि ...
निबंध-निचय ...
पुष्पांजलि ...
कालिदास और शेक्सपीयर ...
साहित्य-संदर्भ ...
साहित्य-प्रभाकर ...
साहित्य-मीमांसा ...
साहित्य-दर्पण ...
प्राचीन साहित्य ...

१॥), ?
१॥), १)
२॥), १)
१॥), २)
१॥), २)
२)
॥=), १?
२), २।
॥=), १)
१), १॥)
॥।=), १)
१), १॥
१
२), २
लगभग
३॥)
१=)
२)
॥-

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—
संचालक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय,
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का उनहत्तरवाँ पुष्प

साहित्य-सुमन

[स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्टजी के रसीले लेखों का संग्रह]

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

तृतीयावृत्ति

सजिल्द =)] सं० १९८४ वि० [मूल्य ॥=)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष, गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

बहुत दिनों की आशा आज पूर्ण हुई। चिरकाल से निश्चय किए थे कि भट्टजी के रसीले लेख-पुष्प चुन उनके प्रेमियों के सम्मुख रक्खें; लेकिन जभी ही मन किया, काँटे नज़र आए। अस्तु, किसी-न-किसी तरह यह अवसर हाथ आया, और अब यह एक रसीली लेख-मालिका पाठकों के सम्मुख रक्खी जाती है। यह माला टटकी, तत्काल की गुथी हुई नहीं है। भट्टजी के स्वसंपादित ३२ साल के 'हिंदी-प्रदीप' में स्थान-स्थान पर ये लेख जगमगा चुके हैं। पर इनकी तरोताज़गी, चटकीलेपन और रसीलेपन में कहीं से भी बासीपन की गंध नहीं झलकती।

भट्टजी की लेखनी से निकली हुई तीन पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। यह चौथी पुस्तक 'साहित्य-सुमन' के नाम से आज हिंदी-प्रेमियों को भेंट की जाती है। इस लेख-माला में साहित्य और नीति-संबंधी सब २५ लेख चुन-चुनकर रक्खे गए हैं। इन लेखों को पढ़कर भट्टजी की लेखनी का पूर्ण स्वाद मिल सकता है। भट्टजी उन थोड़े-से प्रतिभाशाली लेखकों में से थे, जिन्होंने आधुनिक हिंदी-भाषा के गद्य की नींव डाली है। उन्होंने अपने "हिंदी-प्रदीप" के द्वारा बहुतों को हिंदी लिखना सिखाया। भट्टजी का "हिंदी-प्रदीप" सदा शुद्ध हिंदी की ज्योति से जगमगाता रहा। वह अन्य भाषाओं के उच्छिष्ट लेखों की सहायता से कभी प्रकाशित नहीं हुआ। जिस तरह भट्टजी की भाषा शुद्ध हिंदी रहती थी, उसी तरह उनके लेख भी उन्हीं के विचार की उपज रहते थे, किसी की छाया अथवा अनुवाद नहीं। वह जो कुछ लिखते थे, अपने दिमाग से लिखते थे। भट्टजी के लेखों में यह [illegible]न गया है।

साहित्य-सुमन

१—साहित्य जन-समूह के हृदय का विकाश है

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त, या किसी प्रकार की चिंता से दोचित्ता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलिन रहती है; उस समय उसके कंठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फुटही ढोल के समान बेसुरी, बेताल, बेलय या करुणापूर्ण, गद्गद तथा विकृत स्वर-संयुक्त होती है। वही जब चित्त आनंद की लहरी में उद्वेलित हो नृत्य करता है और सुख की परंपरा में मग्न रहता है, उस समय मुख विकसित कमल-सा प्रफुल्लित, नेत्र मानो हँसता-सा, और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठध्वनि भी तब वसंत-मदमत्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सोहावनी मन भाती है। मनुष्य के संबंध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परिताप-जनित हृदय-विदारी करुणा-निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का

चार कुछ न था, इसी से उनका साहित्य राजनीति की कुटिल उक्ति-युक्ति से मलिन नहीं हुआ था। नए आए हुए आर्यों की नूतन ग्रथित समाज के संगठन में सब तरह की अपूर्णता थी सही, पर सबका निर्वाह अच्छी तरह होता जाता था; किसी को किसी कारण से किसी प्रकार का अस्वास्थ्य न था; आपस में एक दूसरे के साथ अब का-सा बनावटी कुटिल बर्ताव न था। इसलिये उस समय के उनके साहित्य वेद में भी कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम सौहार्द, कपट-नृत्ति, बनावट और चुनाचुनी ने स्थान नहीं पाया। उन आर्यों का धर्म अब के समान गला घोटनेवाला न था। सबके साथ सबकी सहानुभूति खान-पान द्वारा रहती थी। उनके बीच धार्मिक मनुष्य अब के धर्मध्वजियों के समान दांभिक धन महाव्याधि सदृश लोगों के लिये गलग्रह न थे। सिधाई, भोलापन और उदारभाव उनके साहित्य के एक-एक अक्षर से टपक रहा है। एक बार महात्मा ईसा एक सुकुमार-मति बालक को अपने गोद में बैठाकर अपने शिष्यों की ओर इशारा करके बोले कि जो कोई छोटे बालकों के समान भोला न बने, उसका स्वर्ग के राज्य में कुछ अधिकार नहीं है। हम भी कहते हैं, जो सुकुमार-चित्त वेदभाषी इन आर्यों की तरह पद-पद में ईश्वर का भय रख, प्राकृतिक पदार्थों के सौंदर्य पर मोहित होकर, बालकों के समान सरलमति न हो, उसका स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना अति दुष्कर है।

इन्हीं प्राकृतिक पदार्थों का अनुशीलन करते-करते इन आर्यों को ईश्वर के विषय में जो-जो भाव उदय हुए, वे ही सब एक नए प्रकार का साहित्य उपनिषद् के नाम से कहलाए। जब इन आर्यों की समाज अधिक बढ़ी और लोगों की रीति-नीति और बर्ताव में विभिन्नता होती गई, तब सबोंको एकता के सूत्र में बद्ध रखने के लिये और अपने-अपने गुण-कर्म से लोग चल-विचल हो सामाजिक

से भारत के समय में लोगों के हृद्गत भाव में कितना अंतर ग था कि रामायण में दो प्रतिद्वंद्वी भाई इस बात के लिये द कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्यसिंहासन हमारा है, यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे। अंत में रामचंद्र भरत को ाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप ंद-निर्भर-चित्त हो सस्त्रीक वनवासी हुए। यही महाभारत में दो ाद भाई इस बात के लिये कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने सुई का अग्रभाग ढँक जाय, उतनी पृथ्वी भी विना युद्ध के हम न :—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"। परिणाम में एक ई दूसरे पर जयलाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर ाघात से उसे वध कर भाई के राज्यसिंहासन पर आरूढ हो सुख फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ। रामायण ीर महाभारत के आचार्य क्रम से कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि और यास थे। पृथ्वी के और-और देशों में इनके समान या इनसे 'ढकर कवि नहीं हुए, ऐसा नहीं है। यूनान-देश में होमर, रोम- ेश में वरजिल, इटली में डँटी, इँगलैंड में चासर और मिल्टन

पर मोहित हो दंडकारण्य की असभ्य जाति ने भी अपने को उनका
दास माना । अहा ! धन्य श्रीरामचंद्र का अलौकिक माहात्म्य,
धन्य वाल्मीकि की कल्पना-शक्ति, जिसमें ऐसे-ऐसे स्वर्गोपम
प्रस्फुटित हुए ।

काल के परिवर्तन की ऐसी महिमा है, जो अपने साथ-ही-साथ
मानुषी प्रकृति के परिवर्तन पर भी बहुत कुछ असर पैदा कर देता
है । वाल्मीकि ने जिन-जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना
के प्रधान नायक रामचंद्र से बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय
में गुण हो गईं, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना
मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पावे।
भारत के हरएक प्रसंग का लोप अंत में इसी बात पर है । शत्रु
संहार और निज कार्यसाधन-निमित्त व्यास ने महाभारत में जो-जो
उपदेश दिए हैं, और राजनीति की काट-छाँट जैसी-जैसी दिखाई है,
उसे सुन बिस्मार्क-सरीखे इस समय के राजनीति के मर्म में कुशल
राजपुरुषों की अक़्ल भी चरने चली जाती होगी । इससे निश्चय हो
है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना-परवश भारतवर्ष
समय कहाँ तक उदार भाव, समवेदना आदि उत्तम गुणों से वि
हो गया था । युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसि
पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य-साधन के समय सब भुल
"अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा" इत्यादि कितने उदाहर
बात के हैं; किंतु उन्हें विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखते ।

महाभारत के उपरांत भारत और-का-और ही हो गया । उस
दशा के परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके साहित्य में भी बड़ा प
वर्तन हो गया । उपरांत बौद्धों का ज़ोर हुआ । ये सब वेद
ब्राह्मणों के बड़े विरोधी थे । वेद की भाषा संस्कृत थी । इसी
ने बिगाड़ प्राकृत भाषा जारी की । सब से सं

संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा इस समय न रह गई थी, पर प्रत्येक विषय के ग्रंथ इसमें एक से एक बढ़-चढ़कर बनते गए। और, साहित्य की तो यहाँ तक बढ़ती हुई कि कालिदास आदि कवियों की रसिक-सूक्ति के मुकाबले वेद का भाव और उसका साहित्य अत्यंत फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक-एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, बाण की एक-एक सूझ पर वेद के उम्दा-से-उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने काव्य-साहित्य की बड़ी भारी कारीगरी दिखलाई है, न्योछावर हैं। संस्कृत के साहित्य के लिये विक्रमादित्य का समय "आगस्टन पीरियड" कहलाता है, अर्थात् उस समय संस्कृत, जहाँ तक उसके लिये परिष्कृत होना संभव था, अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच गई थी। यद्यपि भारवि, माघ, मयूर प्रभृति कई एक उत्तम कवि धाराधिपति भोजराज के समय तक और

उनके उपरांत भी जगन्नाथ पंडितराज तक बराबर होते ही गए; किंतु संस्कृत के परिष्कृत होने की सामग्री उस समय तक पूरी हो चुकी थी। भोज का समय तो यहाँ तक कविता की उन्नति का था कि एक एक श्लोक के लिये असंख्य इनाम राजा भोज कवियों को देते थे। वेद का साहित्य उस समय यहाँ तक दब गया था कि छांदस मूर्ख की एक पदवी रक्खी गई थी। केवल पाठ-मात्र वेद जाननेवाले छांदस कहलाते थे, और वे अब तक भी निरे मूर्ख होते आए हैं।

बौद्धों के उच्छेद के उपरांत एक ज़माना पुराण के साहित्य का भी हिंदुस्तान में हुआ। उस समय बहुत-से पुराण, उपपुराण और संहिताएँ दो ही चार सौ वर्ष के हेर-फेर में रची गईं। अब हम लोगों में जो धर्मशिक्षा, समाज-शिक्षा और रीति-नीति प्रचलित हैं, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं हैं। थोड़े-से ऐसे लोग हैं, जो अपने को स्मार्त मानते हैं। उनमें तो अलबत्ता अधिकांश वेदोक्त कर्म का यत्किंचित् प्रचार पाया जाता है, सो भी केवल नाम-मात्र को; पुराण उसमें भी बीच-बीच आ घुसा है। हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हज़ार-हज़ार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था, तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में ज़रा भी अंतर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत-सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी हम घिना उठते हैं, और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके समय से अपने अहिंसा-धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराणकर्ताओं ने उठा कर शुद्ध सात्त्विकी धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मत-मतांतरों का प्रचार भी पुराणों की ही करतूत है। पुराणवाले तो यंत्र-मंत्र-पूजन ही तक से संतोष करके रह गए। तंत्रों ने बड़ा सं

किया। उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता—भैरव, काली, डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत तक—की पूजा को फैला दिया। मद्य-मांस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बल-वीर्य की पुष्टता से, जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित ही रहे। निःसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती, तो हिंदुस्तान ऐसा जल्द न डूबता। वेद के अधिकारी शुद्ध ब्राह्मण के लिये तांत्रिक दीक्षा या तंत्र-मंत्र अति निषिद्ध हैं। ब्राह्मण तंत्र के पठन-पाठन से बहुत जल्द पतित हो सकता है, यह जो किसी स्मृतिकार का मत है, हमें भी कुछ-कुछ सयुक्तिक मालूम होता है। बहुत-से पुराण तंत्रों के बाद बने। उनमें भी तांत्रिकों का सिद्धांत पुष्ट किया गया है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि हिंदू-जाति में क़ौमियत के छिन्न होने का सूत्रपात पुराणों के द्वारा हुआ, और तंत्रों ने उसे बहुत पुष्ट किया। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक जुदे-जुदे फ़िरके हो गए, जिनमें इतना दृढ़ विरोध क़ायम हुआ कि एक दूसरे के मुँह देखने के रवादार न हुए, तब परस्पर का एका और सहानुभूति कहाँ रही! जब समस्त हिंदू-जाति की एक वैदिक संप्रदाय न रही, तो वही मसल चरितार्थ हुई कि "एक नारि जब दो से फँसी; जैसे सत्तर वैसे असी"। हमारी एक हिंदू-जाति के असंख्य टुकड़े होते-होते यहाँ तक नौबत पहुँची कि अब तक नए-नए धर्म और मतप्रवर्तक होते ही जाते हैं। ये टुकड़े जितना वैष्णवों में अधिक हैं, उतना शैव-शाक्तों में नहीं और आपस में एक का दूसरे के साथ मेल और खान-पान जितना कम इनमें है, उतना औरों में नहीं। राम के उपासक कृष्ण के उपासक से बचते हैं, कृष्ण के उपासक रामोपासकों से इत्तिफ़ाक़ नहीं रखते। कृष्णोपासकों में भी गव्यासिन अनन्यता ऐसी आड़े आई है कि यह इनके आपस ही में बड़ा खटपट लगाए रहती है।

प्राकृत के उपरांत हमारे देश के साहित्य के दो नमूने और मिलते हैं, एक पद्मावत और दूसरा पृथ्वीराज-रायसा। पद्मावत की कविता में तो किसी क़दर कुछ थोड़ा-सा रस है भी; पर पृथ्वीराज-रायसा में तारीफ़ के लायक़ कौन-सी बात है—यह हमारी समझ में बिलकुल नहीं आता। प्राकृत से उतरते-उतरते हमारी विद्यमान हिंदी इस शकल में कैसे आई, इस बात का पता अलबत्ता रायसा से लगता है। मत-मतांतर के साथ-ही-साथ हमारी भाषा भी गुजराती, मरहठी, बंगाली इत्यादि के भेद से प्रत्येक प्रांत की जुदी-जुदी भाषा हो गई। इन एकदेशी भाषाओं में बंगाली सबसे अधिक कोमल, मधुर और सरस है; मरहठी महाकठोर और कर्ण-कटु; तथा पंजाबी निहायत भद्दी, कठोर और रूखापन में उर्दू की छोटी बहन है।

अब अपनी हिंदी की ओर आइए। इसमें संदेह नहीं, विस्तार हिंदी अपनी बहनों में सबसे बड़ी है। ब्रजभाषा, बुंदेलखं[डी,] बैसवारे की तथा भोजपुरी इत्यादि इसके कईएक अवांतर-भेद [हैं।] ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी ज़नानी बोली [है] कि इसमें सिवा शृंगार के दूसरा रस आ ही नहीं सकता। जि[स] बोली को कवियों ने अपने लिये चुन रक्खा है, वह बुंदेलखंड[ी] बोली है। इसमें सब प्रकार के काव्य और सब रस समा सकते हैं। अपनी-अपनी पसंद निराली होती है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"। हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है [।] दूसरी भाषाएँ, जैसे मरहठी, गुजराती, बँगला की अपेक्षा कविता-अंश में हिंदी का साहित्य बहुत बढ़ा हुआ है तथा संस्कृत से कुछ ही न्यून है। किंतु गद्य-रचना "प्रोज़" हिंदी का बहुत ही कम और [तुच्छ] पोच है। सिवा एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के इसमें और कु[छ] है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भांडार में शामिल करते

दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेंद मारे हुए है कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं। प्रसंग-प्राप्त अब हमें यहाँ उर्दू के साहित्य की समालोचना का भी अवसर प्राप्त हुआ है; किंतु यह विषय अत्यंत ऊब पैदा करनेवाला हो गया है, इससे इसे यहीं पर समाप्त करते हैं। उर्दू की समालोचना फिर कभी करेंगे।

२—मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है.

बुद्धिमानों ने वेदादि ग्रंथों में मन के अनेक जुदे-जुदे काम लिखे हैं। तद्यथा—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति,
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अर्थात्—जो जाग्रत् दशा में दूर-से-दूर चला जाता है, अर्थात् मनुष्य के शरीर में रहता हुआ भी दैवी शक्ति-संपन्न है, जो सोते दशा में लय को प्राप्त होता है, अर्थात् न-जाने कहाँ-कहाँ चला जाता है, जो जागते ही फिर लौटके आ जाता है, अर्थात् पहले के समान अपना सब काम करने लगता है, जो दूरगामी है, अर्थात् जहाँ नेत्र आ इंद्रियाँ नहीं जा सकतीं, वहाँ भी पहुँच जाता है, जो भूत, भवि और वर्तमान, तीनों को जान सकता है, जो प्रकाशात्मक है, अ जिसके प्रकाश से अतिवाहित हो इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में ल लगती हैं, वह मेरा मन कल्याण की बातों का सोचनेवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ;
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अर्थात्—अच्छा सारथी बागडोर के द्वारा जैसे घोड़ों को जाता है, वैसे ही जो मन प्राणिमात्र को सारथी के सदृश ले चलता है, जो कभी जीर्ण नहीं होता, अर्थात् शरीर में जैसे बाल्य, यौवन और बुढ़ापा आ जाते हैं, वैसे ही जिसमें बाल्य, यौवन और बुढ़ापा नहीं आते, जो अत्यंत वेगगामी है, ऐसा मेरा मन कल्याण की बातों का सोचनेवाला हो।

इस मन की भावनाएँ या भाव जो प्रतिबिम्ब इसमें उठा करती हैं, मनुष्य के बाहरी आकृति में प्रकट होती है। इसलिये इस बाहरी आकृति को यदि मन की एक प्रतिकृति कहा जाय, तो अनुचित न होगा। किसी के चेहरे को देखकर कोई कहता है कि इसके चेहरे पर इत्मीनान बरस रहा है। यह इत्मीनान क्या चीज़ है? यही मन की एक प्रतिकृति है, जो स्त्रैण इस प्रकृति के विरुद्ध है, जो पुरुष-जाति की होनी चाहिए। पुरुषों के समान वीरता, उत्साह आदि पौरुषेय गुण स्त्रियों के मन में नहीं रहते हैं। इसी तरह स्त्रियाँ भी बहुतेरी ऐसी होती हैं, जो कितनी बातों में मर्दों के कान काटती हैं, जिससे यही प्रकट होता है कि अनेक पौरुषेय गुण उनके मन में बसे रहते हैं। ऐसा ही शूर-वीर का चेहरा कायर और भगोड़े से, मद का अभिमानी से, शिर्री हठीले का सरल सीधे स्वभाववाले से, कुटिल का सरल से, आवारह का मादर्दी से नहीं मिलता। इतना ही नहीं, जगत् के बाह्य प्रपंच का जो कुछ असर जिस पर होता है, वह सब आदमी के चेहरे से प्रकट हो जाता है। किसी रूपवती सुंदरी नारी को देख कामी, दार्शनिक या विरक्त योगी के मन में जो असर पैदा होता है और जो भावनाएँ जिसमें उठती हैं, वे सब अलग-अलग उन-उन लोगों के चेहरे से ज़ाहिर हो जाती हैं। कामी कामातुर हो आपे के बाहर हो जाता है, लाज और शरम को जलांजलि देकर हज़ारों चेष्टाएँ उससे मिलने की करता है, दिन-रात विकल रहता है और अपनी कोशिश में कामयाब न हो कभी-कभी तो वियोग में ज़िंदगी से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही दार्शनिक तत्त्ववेत्ता ज्ञानी उस सुंदरी को पांच-भौतिक पदार्थों का परिणाम मान, उसके *एक-एक अंग की शोभा निरख,* सृष्टिकर्ता की निर्माण-चातुरी पर मन-ही-मन प्रसन्न होता है। विरक्त ज्ञानी उसे हाड़, मांस, विष्ठा, मूत्र आदि मलिन और दूषित पदार्थों की समष्टि समझ मन में वैराग्य-प्रदीप के प्रकाश को अधिक स्थान देता

गया। किसी मनुष्य को यदि कोई मानसिक वेदना है, या उसने उस दिन से कुछ नहीं खाया, या वह और किसी प्रकार की पीड़ा से आक्रान्त है, तो उसके लाख छिपाने पर भी मुख पर अवश्य ही कुछ सिकुड़नें मालूम पड़ेंगी और उस पीड़ा का असर अवश्य मुख पर झलक पड़ेगा। यदि न झलके, तो वह उन योगी के समान है, जिसने मन को जीत लिया है। जिस समय चित्त में कुछ विकार रहता है, उस समय आदमी के चेहरे से वह मानसिक भाव पर प्रकट हो जाता है। जिस समय चित्त में क्रोध रहता है, तो भौंहें चढ़ जाती हैं, आँख लाल हो जाती हैं, चेहरा तमतमा उठता है। इसी तरह जब कुछ शोक का उदय मन में रहता है, तो बाह्य आकृति उदास, चेहरा उतरा हुआ, मुख मलिन, आँख में आँसू डबडबाया रहता है। इसी तरह भयभीत का चेहरा ज़र्द, मुँह सूखा हुआ, आकृति नितान्त दीन-हीन होती है। जब चित्त प्रसन्न रहता है, तब बाह्य आकृति टटके फूले हुए गुलाब कीसी, चेहरा मनोहर और रौनकदार मालूम होता है। ये सब लक्षण तात्कालिक चित्त और चेहरे के परिवर्तन के हैं। इसी तरह बहुत-से चिह्न चेहरे या और और अंगों के भी होते हैं; वे चिह्न, चाहे मनुष्य के हों या किसी पशु-पक्षी के हों, उसके मानसिक भाव को प्रकट करते हैं। मुख से मानसिक भाव प्रतिबिंबित होता है। यह सामुद्रिक विद्या का एक सूत्र है, जो मालूम होता है, बहुत जाँच के बाद निश्चित किया गया है (वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में पंचमहापुरुष के लक्षण तथा एक-एक अध्याय में गौ, बैल, बकरा, मेढ़ा, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं के अलग-अलग लक्षण दिए हैं। पंचमहापुरुष के लक्षण जैसे, बड़े-बड़े नेत्र, चौड़ा लिलार, उतार-चढ़ावदार सीधी सुग्गा की ठोंट सी नासिका, गद्दूदार सीधी ठुड्डी इत्यादि भाग्यवानी के चिह्न हैं। कंजी आँखवाला, कोती गरदनवाला तथा पसाकद

अवश्य कुटिल और फ़सादी होगा । एवं जिसके माथे के रे है बड़े हों, वह मूर्ख न होगा। इसी प्रकार "अधिक् सराप् लिं" इस वाक्य के अनुसार यह प्रायः देखा गया है कि शास्त्रः ... दाँतवाला अर्थात् जिसके दाँत में फाँक न हों, वह ... निर्धन होगा । कानी आँखवाला साधु न होगा; आजानुबाहु अर्थात् जिसका हाथ इतना लंबा हो कि खड़े होने पर घुटने तक जाय, वह बड़ा वीर, कुलीन, दानी, उदार प्रकृतिवाला होगा। स्त्रियों में जिसके शरीर में रोओं अधिक हो, वह बंदी, ... महाचंडेश्वर होती और जल्द विधवा हो जाती इत्यादि। ... लिखा है—

और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है, इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है, किन्तु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिए। दोनों के काम की बारीकी और सूक्ष्म सौंदर्य के पेखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई विरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक-सी है।

अब रहा "उपादान-कारण" या सामान, अर्थात् कवि के लिये वाग्-विभव और चितेरे के लिये रंग का चटकीलापन इत्यादि, सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा; क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिये बाह्य वस्तु, जैसे वन, नदी, पर्वत आदि के वर्णन, की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाश कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार (shades) रंग की ज़रा-सी झाँईं में प्रकट कर दिखाता है, उसी का प्रकट करना कवि के लिये इतना दुरूह है कि बेहद दिमाग़ पच्ची करने पर दो-चार सत्कवियों ही के काव्य में यह ख़ूबी पाई जाती है। फिर भी उतनी सफ़ाई काव्य में न आवेगी। चित्र में अंतर्लीन मनोगत भाव सहज में दरशाया जा सकता है। मनोगत भावों का प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर इन्हीं दो के काव्यों में विशेष पाया जाता है। मनोगत भाव जैसा हर्ष, शोक, भय, घृणा, प्रीति इत्यादि के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे परिच्छेद में अच्छी तरह संगृहीत कर दिए गए हैं। यह बात कवि और चितेरे में बताने और सिखाने से उतना नहीं आती, जितना स्वाभाविक बोध (Intuitive Perception) से होती है, किंतु फिर भी फ़र्क़ इतना ही रहेगा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में लावेगा, उसे चित्रकार तूलिका (रंग भरने की कूँची) के एक हलके-से झोंक (Touch) में प्रकट कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।

३—कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

इन दोनों की डाँड़ामेड़ी हम इसलिये कहते हैं कि मनुष्य
प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं—कवि
लेखनी और शब्दों के द्वारा, चितेरा अपनी "तूलिका" (रंग भरने
की कूची) और भाँति-भाँति के चित्र-विचित्र रंगों से। काम दोनों
का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नहीं, कि
एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिये आवश्यकीय है। कि
कवि का यह श्लोक हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है

नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा,
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः।

अर्थात्—नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह संस
पड़ता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर
कवि है, और दूसरे का ब्रह्मा।

जानन्ति यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ति यन्न योगिनः;
जानाति यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्।

अर्थात्—इस दृश्य जगत् के साक्षी-रूप सूर्य और चंद्रमा जि
बात को नहीं जानते, परोक्ष ज्ञानवान् योगीजन जिसे नहीं जा
और किसकी कहें, सर्वज्ञ सदाशिव भी जो बात नहीं जानते, उसे
अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है।

कवि की प्रतिभा जिस भाव के वर्णन से लोकोत्तर चातुरी
दिखाती है, अच्छा निपुण चितेरा उसी को अपनी प्रति
... देता है। अच्छा चितेरा कवि के
... तस्वीर खींच

इसी तरह पर भक्तजनों के घर जाइए, तो संत, महंत, महापु-
के चित्र पाइएगा, जिनके देखने-मात्र से एक अद्भुत शांति-रस
उद्गार मन में आ जायगा। पॉलिटिक्स की मदिरा के नशे में
प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के स्थान पर क्रामवेल, बिस्मार्क-सरीखे
बुद्धिवालों का चित्र देखिएगा, बाल-विवाह की सर्वस्व नाश
वाली कुरीति ने हिंदू-जाति के संतानों की वृद्धि और उपचय
यहाँ तक सत्यानाश में मिलाया, किस घृणित दशा में
को पहुँचा दिया। और इस कुरीति की विषमय वायु से बचकर
प्य बल, पुष्टता, तेज, कांति, सौंदर्य का कहाँ तक संचय कर सकता
इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिये हमें चाहिए कि युगल तथा
प-देश के कमनीय बालक, युवती और दढ़ांग पुरुषों की कुछ तस्वीरें
नी चित्रसारी में टाँग रक्खें और सदैव उनको देखा करें।
कवि और चितेरे में कहाँ तक डाँड़ामेड़ी या परस्पर की स्पर्द्धा
– इसे हम अपने पाठकों को दरशा चुके हैं। अब इन दोनों में
। अंतर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों
ता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है, त्यों-त्यों चित्रकारी में नई-नई
श-तराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है; पर कवियों की
देवी जिस सीमा को पहले ज़माने में पहुँच चुकी है, उससे बरा-
अब तक घटती ही गई, यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि-वैभव,
इलमी के मुक़ाबले वह ज़माना बहुत पीछे हटा हुआ था।
है मेकॉले ने अपने एक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह
सिद्ध कर दिखाया है। मेकाले कहते हैं कि "लोग इस सभ्यता
समय दर्शन, विज्ञान और दूसरी-दूसरी बुद्धि का विकास करने-
ली बातों में प्रवीणता प्राप्त कर पहले की अपेक्षा अधिक सोच
ते हैं, अनेक ग्रंथों के सुलभ हो जाने से अधिक जान सकते हैं
, उस अपनी सोची या जानी हुई बात को बुद्धि की अधिक

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र चिरस्थायी न रहेगा, जितना कविता रह सकती है। तस्वीर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी यहाँ के अमीरों के ड्राइंग-रूम में नंगी तस्वीरों का रहना फ़ैशन दाख़िल हो गया है। लखनऊ के नवाबों के ख़िलवतगाह में वे और हसीनों की तस्वीर न हो, तो उनकी हुस्नपरस्ती में ख़ामी रह जाय। उर्दू-फ़ारसी के काव्यों का प्रधान अंग केवल शृंगाररस आशिक़ी-माशूक़ी का दास्तान जिसमें न हो, वह कोई शायरी है। उस भाषा के शायर इश्क़ को जैसी उम्दी तरह पर कह सकते उम्दा और नवरसों में दूसरे रस का वर्णन उनसे न बन पड़े सो भी उनका इश्क़ बहुधा पुरुषों पर होगा, स्त्रियाँ उनके बहुत कम पाई जाती हैं। हमारे देश के रामागतीवाले के महाजनों तथा मारवाड़ियों की दूकानों पर इना निहायत भद्दी देवताओं की भोंडी तस्वीर के सिवा पाइएगा, जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने मानो कळ्ळ का आर्ट-स्टूडियो और पूना की चित्रशाला मात मारती है। इनकी निराली पसंद के ठीक उपयुक्त "दानलीला", "मानलीला" इत्यादि के आगे हम लोगों के प्रौढ़ लेख की चातुरी कब इनके में स्थान पा सकती है। किसी ने कहा है—

"ये गाहक करवान के तुम लीनी कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति के प्रेमियों को शांति-उत्पादक वन, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु, हरियाली आदि के चित्र पसंद हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइएगा। अँगरेज़ी के विद्वान् का कथन है—"A picture in the ro the picture of the mind of the man who han ... तस्वीर लटकानेवाले के मन क ... कमरों में लटकी हुई

४—पुरुष-अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं

"Man is the hunter, and woman is his game,
The sleek and shining creature of the chase:
We hunt them for the beauty of their skins."

Tennyson.

यह बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही त्यों ही तरुणाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को चरितार्थ में नहीं ला सकता और कभी-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है। यह नरपशु तभी तक सुमार्ग पर चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत और साधु है और तभी तक लोक-लाज, लोक-निंदा तथा अपवाद या राजदंड की यातना से बचा हुआ है, जब तक दबसट में पड़ा हुआ अपने स्वेच्छाचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। कितनी ऐसी दंत-कथाएँ, गँवारू क़िस्से-कहानियाँ, जो गाँव के केवल दश-पाँच घर तक प्रचलित हैं, और बहुत-से ऐसे इतिहास, कथा, हादसे और वर्णन, जिन्हें कवियों ने पद्यबद्ध कर डाला है, जैसे पद्मावत, आल्हा-ऊदल की कहानी, रामायण, होमर की इलियड, युसुफ़-ज़ुलेख़ा, लैला-मजनू इत्यादि और प्रसिद्ध नावेल (उपन्यास) जो अँगरेज़ी और फ़्रांस की भाषा में लिखे गए हैं, हमारे इस लेख के उदाहरण हैं। बल्कि उन-उन उपन्यासों की भूमिका में ही आप यह पाइएगा कि अमुक ड्यूक या प्रिंस या शाहज़ादा ने अमुक सुंदरी, नाज़नीन या हूर की ख़ूबसूरती

४—पुरुष-अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं

> "Man is the hunter, and woman is his game,
> The sleek and shining creature of the chase;
> We hunt them for the beauty of their skins."
>
> Tennyson

यह बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही
यों ही मरदाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी
तरों और अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर
तचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में
समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छा-
चार को बर्ताव में नहीं ला सकता और कभी-कभी अपने हस्त-
गत शिकार को भी छोड़ बैठता है। यह नरपशु तभी तक सुमार्ग
र चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत और साधु है
और तभी तक लोक-लाज, लोक-निंदा तथा अपवाद या राजदंड की
यातना से बचा हुआ है, जब तक दबसट में पड़ा हुआ अपने स्वेच्छा-
चार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। कितनी ऐसी दंत-कथाएँ, गँवारू
क़िस्से-कहानियाँ, जो गाँव के केवल दश-पाँच घर तक प्रचलित हैं,
और बहुत-से ऐसे इतिहास, कथा, हादसे और वर्णन, जिन्हें कवियों
ने पद्यबद्ध कर डाला है, जैसे पद्मावत, आल्हा-ऊदल की कहानी,
रामायण, होमर की इलियड, युसुफ़-जुलेख़ा, लैला-मजनू इत्यादि
और प्रसिद्ध नावेल (उपन्यास) जो अँगरेज़ी और फ़्रांस की भाषा
में लिखे गए हैं, हमारे, इस लेख के उदाहरण हैं। बल्कि उन-उन
उपन्यासों की भूमिका में ही आप यह पाइएगा कि अमुक ड्यूक या
प्रिंस या शाहज़ादा ने अमुक सुंदरी, नाज़नीन या हूर की ख़ूबसूरती

या गोरे चाम पर आशिक़ हो इतनी-इतनी तकलीफ़ें उठाईं और अंत को वह अपने प्रयत्न में इस तरह पर कृतकार्य हुआ या आ[illegible] तक से हाथ धो बैठा। इसी गोरे चाम की लालच या तलाश म[illegible] सैकड़ों-हज़ारों हमारे भाई मुसलमान और क्रिस्तान हो गए और रावण-सरीखे न-जाने कितने जड़-पेड़ से उच्छिन्न हो गए। पुरानी तवारीख़ें गवाही दे रही हैं कि मुग़लों की मुग़लानी और पठानों की पठानी का निचोड़ यही था। एक-दो कौन कहे, उनका हरम-क[illegible] हरम इस गोरे चाम के शिकार से भरा हुआ था। इस लोगों [illegible] औरतों को परदे में रखने के दस्तूर की बुनियाद भी यहीं हु[illegible] बाल्य-विवाह की कुरीति इसी कारण से चल पड़ी कि कन्याओं क[illegible] सात भाँवर फिराकर किसी को सौंप दें, जिसमें उसके सतीत्व [illegible] रक्षा रहे और जवानी की झलक आने पर कहीं ऐसा न हो कि [illegible] अत्याचारी यवन अहेरी इसे अपना शिकार कर डालें। और शि[illegible] से इस शिकार में यह बड़ा ही अनूठापन है कि तरुणी जन [illegible] एक बार दूसरे का अहेर बन जन्मपर्यंत उस अहेर करनेवा[illegible] उलटा अपना शिकार बना लेती हैं, और उसके तन, मन, धन [illegible] का अहेर कर पुरुष-पशु को घरेलू जानवर, क्रीड़ामृग, खिलौना, की[illegible] दास, या परांचर तथा ताबेदार कर लेती हैं। नूरजहाँ ने जहाँगीर को नाच नचाया, वह मदारी अपने बंदर को क्या नचायेगा। प[illegible] बार जहाँगीर का शिकार बन उसने जन्म-भर के लिये दिल्ली के शाही बादशाह को दिल्ली बनाकर रख छोड़ा। जहाँगीर केवल नाम का बादशाह रह गया, सल्तनत का कुल इंतिज़ाम नूरजहाँ करती थी [illegible] जहाँगीर ने एक आम हुक्म दे दिया था कि जिस सिक्के पर उस[illegible] नाम के साथ नूरजहाँ का नाम खुदा हो, उस सिक्के का दाम [illegible] गुना अधिक समझा जाय। जहाँगीर का एक श्लोक एक उदाहरण [illegible] जाता है, कि [illegible]

५—हमारे मन की मधुप-वृत्ति

आदमी का मन भी एक अजब ही गोरख-धंधा है, जिसे नई-नई बातें सुनने, नए-नए दृश्य देखने तथा नई-नई चीज़ें सीखने की सदा अभिलाषा रहती है। मनुष्य को इन बातों की ओर झुकावट और उनको खोजने की लालसा परिपक्वबुद्धि होने पर उपजती हो, सो नहीं, वरन् लड़कपन से ही, जब वह अत्यंत सुकुमार-मति रहता है, इस बात का अंकुर उसके चित्त में जमता है। कोई बालक कैसा ही खिलवाड़ी हो, उसे भी खेल के नए रास्ते की खोज होगी, और यह तो बहुधा देखने में आया है कि जो लोग दिन-भर कोई फ़ायदे का काम नहीं करते, वरन् खेल-कूद में दिन गँवाते हैं, उनको भी जिस दिन कोई नया तमाशा देखने या दिल बहलाने का मिल जाता है, उस दिन उनके चित्त की प्रसन्नता का ओर-छोर नहीं रहता। परंतु सच पूछिए तो निरे खेल-कूद में दिन काटना मनुष्यत्व या मनुष्य-शब्द के अर्थ पर आक्षेप करना है। हमारे यहाँ के मननशील पूर्वकाल के दार्शनिकों ने आदमी का पर्याय जो मनुष्य रक्खा है, सो यही देख-कर कि वह अपनी भली या बुरी दशा को सोच सकता है, उसके चारों ओर जो संसार के अनेक प्राकृतिक कार्य हो रहे हैं, उनका भेद लेकर उनकी असलियत जान सकता है, और नित्य नई विद्या और विज्ञान की वृद्धि कर सकता है। वह ज़िंदगी को मज़ेदार करने की ज़रूरत पैदा करता जाता है और उन आवश्यकताओं को पूरा कर अपने जीवन को सुख और आराम से काटने का नया-नया ढंग बढ़ाता जाता है। यही कारण है कि आज दिन जो सैकड़ों तरीक़े आराम और आसाइश के निकल पड़े हैं, हमारे पहले के लोगों का

कभी स्वप्न में भी उन पर ध्यान नहीं गया था। ऐसा मालूम होता
है कि आदमी का दिमाग़ कबूतर के दरबों-सा है, जिनमें एक समय
केवल थोड़े-से कबूतर और उनके अंडे-बच्चे थे; ज्यों-ज्यों कबूतरों की
सृष्टि बढ़ती गई, त्यों-त्यों दरबे के ख़ाने भी बढ़ते गए। कदाचित् यही
दशा आदमी के दिमाग़ और उसमें भरे हुए विविध विषयों की भी है।
हमारा केवल विज्ञान-संबंधी विद्याओं से प्रयोजन नहीं है, किंतु उ
सब शास्त्रों और विद्याओं से भी है, जो मनुष्य के घर-गृहस्थी के
कामों में उठने-बैठने, चलते-फिरते, प्रतिक्षण हमारे उपयोग में आ
सकती है। हम समझते हैं, इस बात के स्वीकार करने में आगे
कुछ आगा-पीछा न होगा कि इन्हीं सब नई ईजादों का यह फल
हुआ कि आदमी की अक़्ल और चालाकी पर मानो सान-सी रख
दी गई है। हज़ारों नए-नए धंधे लोगों को काम में लगा रखने के
ऐसे निकले, जिनकी हमारे यहाँ की पूर्वकाल की समाज में कोई उप-
योगिता ही न थी। ज्यों-ज्यों समाज पुष्ट पड़ती गई और सभ्यता
का प्रादुर्भाव होने लगा, त्यों-त्यों नई ईजाद होती गई और अब इस
नई सभ्यता के ज़माने में तो एक-से-एक अचंभे की नई-नई बातें
सुनने और देखने में बराबर आ रही हैं। इसलिये यह कहना कि
विज्ञान या मनुष्य के सोचने का परिणाम कोई दूसरी विद्या अपने इस
और छोर को पहुँच गई, बड़ी भूल होगी। हम तो कुछ ऐसा सोचते
हैं कि मनुष्य का जन्म ही नई-नई वस्तुओं के खोजने के लिये हुआ
है। इसी से यह सिद्धांत बड़ा पक्का मालूम होता है कि दुनिया
रोज़-रोज़ तरक़्क़ी पाती जाती है। और जो बातें पहले के लोगों
के कभी मन में भी न आई थीं, उन्हें अब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।
हमारा मन मधुप की-सी वृत्ति धारण किए है। जैसे भँवरा टटके-
टटके सुगंधित फूलों को ढूँढ़ता फिरता है, वैसे ही हम प्रकृति-माता
की सींची हुई इस अनोखी संसार-वाटिका में, जिसका ओर-छोर

है, नई-नई वस्तु ढूँढ़ते फिरते हैं। हमारे दार्शनिकों ने मन में
ञ्चलता का महादोष आरोपित किया है। हम कहते हैं कि नि-
ष, निश्चेष्ट हमारा वह बुझा हुआ मन किस काम का, जिसमें
ाह और ज़िंदादिली को ठहरने के लिये स्थान ही नहीं मिलता।
वही है, जिसे पग-पग में अनोखी टटकी बातों के जानने और
ने का उत्साह रहता है।

कभी स्वप्न में भी इस पर ध्यान नहीं गया था। ऐसा मालूम होता है कि आदमी का दिमाग़ कबूतर के दरबों-सा है, जिसमें एक समय केवल थोड़े-से कबूतर और उनके अंडे बच्चे थे, ज्यों ज्यों कबूतरों की वृद्धि बढ़ती गई, त्यों-त्यों दरबे के ख़ाने भी बढ़ने गए। कदाचित् यही दशा आदमी के दिमाग़ और उसमें भरे हुए विविध विचारों की भी है। हमारा केवल विज्ञान संबंधी विद्याओं से प्रयोजन नहीं है, किंतु उन सब शास्त्रों और विद्याओं से भी है, जो मनुष्य के घर-गृहस्थी के कामों में उठने-बैठने, चलने फिरने, प्रतिदिन हमारे उपयोग में आ सकती है। हम समझते हैं, इस बात के स्वीकार करने में आपको कुछ आगा-पीछा न होगा कि इन्हीं सब नई ईजादों का यह फल हुआ कि आदमी की अक्ल और ख़यालों पर मानो सान-सी रख दी गई है। हज़ारों नए-नए धंधे लोगों को काम में लगा रखने के ऐसे निकले, जिनकी हमारे यहाँ की पूर्वकाल की समाज में कोई उपयोगिता ही न थी। ज्यों-ज्यों समाज पुष्ट पड़ती गई और सभ्यता का प्रादुर्भाव होने लगा, त्यों-त्यों नई ईजाद होती गई और अब हम नई सभ्यता के ज़माने में तो एक-से-एक अचंभे की नई-नई बातें सुनते और देखते में बराबर आ रही हैं। इसलिये यह कहना कि विज्ञान या मनुष्य के सोचने का परिणाम कोई दूसरी विद्या अपने हद और छोर को पहुँच गई, बड़ी भूल होगी। हम तो कुछ ऐसा सोचते हैं कि मनुष्य का जन्म ही नई-नई वस्तुओं के खोजने के लिये हुआ है। इसी से यह सिद्धांत बड़ा पक्का मालूम होता है कि दुनिया रोज़-रोज़ तरक़्क़ी पाती जाती है, और जो बातें पहले के लोगों के कभी मन में भी न आई थीं, उन्हें अब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हमारा मन मधुप की-सी वृत्ति धारण किए है। जैसे भँवरा टटके-से टटके सुगंधित फूलों को ढूँढ़ता फिरता है, वैसे ही हम प्रकृति-माली की सींची हुई इस अनोखी संसार-वाटिका में, जिसका ओर-छोर

६—प्रेम के बाग का सैलानी

"प्रेम का बाग" यह हम इसलिये कहते हैं कि इस बाग में सब भाँति प्रेम ही प्रधान है। प्रेम ही इस बाग का माली है, प्रेम ही की सुगंधित वर्षा हृदय के आसपास में निज इस बगीचे के सैलानी को प्रमुदित करती है। इस प्रेम-वृक्ष की जड़ बहुत नीचे है। इसकी प्रस्फुटित कली वियोग की एकांत चिंता-ओस से सिंचित हो मुरझाने पर भी अपनी महक नहीं छोड़ती; किंतु बार-बार की सुघरूपी प्रातःसमीरण से अधिक-अधिक खुल पड़ती जाती है, और अपने प्रेमी से मिलने की प्रखर इच्छा के सूर्योदय से इस कली की आशा-रूपी पखुरियाँ खुलती जाती हैं। इसके चारों ओर भाँति-भाँति के मनोरथ के वृक्ष हैं, जिनमें कोई फूलते-फलते हैं, किसी में केवल पत्ते-ही-पत्ते देख पड़ते हैं और किसी के अंकुर-मात्र निकलकर रह गए हैं। इस प्रेम-वृक्ष की मुकुलित दशा सौंदर्य है, जिसकी अनिर्वचनीय शोभा आदि से अंत तक वर्णन कर कौन पार पा सकता है। मन गुलाब प्रफुल्लित और इच्छा-वायु के झोंके से प्रेरित हो बार-बार इसके चुंबन को झुकता है। इसके स्वर्गीय बीज को सौंदर्य का चोखा परखनेवाला पक्षी उस स्थल से उठा लाया है, जिसको वैकुंठ-भवन का सार-प्रदेश कह सकते हैं। विषयी कामीजन, जो नित्य नई जारिणी ललनाओं के विलास-लालसा में लालायित रहते हैं और ... पाकदामन सावित्री ऐसी कुलांगनाओं को

आग का प्रचंड पहाड़ भी जलती गंगा की भाँति पाताल में गुप्त है, किंतु उदारमना के साथ जो प्रेम के सच्चे पुजेरी हैं, उनके लिये इसको अन्दर खिलता पास में खींचे लाना बहुत सहज है। इससे निश्चय हुआ कि निठुरता, कुटिलस्वभाव, ढिठाई ये सब प्रेम के बड़े पक्के सहचारी हैं।

अहा! "प्रेम" यह शब्द ही कैसा कोमल और मधुर है। सब पुस्तकों के निचोड़ का सारांश इस दो अक्षर के एक शब्द में रख दिया गया है।

"ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।"

प्रेमागत वियोगी की एक ही ठंडी साँस एकसाथ चारों समुद्र के उमड़ आने से प्रलय-काल की आँधी का नमूना है। संयोग और वियोग में अनंत कोटि स्वर्ग और नरक के सुख-दुःख की झलक दिखलाई पड़ती है। प्रेम महामोह का सारभूत, निश्चलता का आलंब, करुणा का अपार समुद्र, वैराग्य का गगनस्पर्शी उच्च पर्वत, सहिष्णुता का जनक, मन की गति का सीमा चिह्न, सुख और दुःख दोनों का निश्चित सिद्धांत है। भय और निर्भयता, लालसा और वैराग्य, ढिठाई और शरम, नैराश्य और आशा, शोक और हर्ष, दोनों विरुद्धधर्माश्रयी भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हो अपनी पूरी ताक़त से इसके साथ लगे रहते हैं। यह हृदय के उस तहख़ाने के खोलने की कुंजी है, जिसके भीतर अनंत आनंद-रस-राशि का आकर सुगम है। यह एक विचित्र ऐनक है, जिसको आँख पर रखते ही जुदे जुदे रंग की वस्तु सब एक रंग की दीखने लगती हैं, और यह अपना है तथा यह पराया है—इस द्वैविध्य की जड़ कट जाती है। यह भाव हृदय में उदय होते ही मनुष्य पृथ्वी-भर को अपना ही समझने लगता है और—

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

इस वचन का अनुगामी हो जाता है।

प्रेम की अकथ कहानी को आद्योपांत कौन वर्णन कर सकता है! यदि कुछ भी हम इसका वर्णन करना चाहें, तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि भक्ति, आदर, ममता, आनंद, वैराग्य, करुणा आदि जो भाव प्रतिक्षण मनुष्य के चित्त में उठा करते हैं, उन सबोंके मूल तत्व को एक में मिलाकर उसका इत्र निकाला जाय, तो उसे हम "प्रेम" इस पवित्र नाम से पुकार सकेंगे। तो निश्चय हुआ कि जो इस प्रेम के बाग का सैलानी हुआ चाहे, तो पहले इन पूर्वोक्त गुणों से अपने को भरा-पूरा कर ले तब इस बाग के भीतर जाने का मन करे। संसार में ऐसे इने-गिने दो-चार भाग्यवान् पुरुष होंगे, जो प्रेम की कसौटी में कसे जाने पर ठहर सकेंगे और उन्हीं के लिये प्रेम की वाटिका का विस्तार यहाँ हमने दिखलाया है। सच है—

प्रेम-सरोवर यह अगम, यहाँ न आवत कोय;
आवत सो फिर जात नहिं, रहत यहीं का होय।

७—संसार-महा नाट्यशाला

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंचमहाभूत की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुरशिरोमणि, सकल-गुण-आगार, नटनागर, महानट, अनोखे खेलवाड़ी, सूत्रधार के खेलवाड़ की ऐसी रंगभूमि है, जिसमें दृश्य अदृश्य रूप से भासता हो, यह दर्शकों की दृष्टि से माया-मयी जवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है, जिसमें, शृंगार, वीर, करुणा आदि नवों रस वारी-वारी स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महासूत्रधार की सहचारिणी नर्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम-रूप में विचित्र वेषधारी जीव-समूह सब उस बड़े नटनागर की नाट्य-लीला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभि-नय रातोदिन हर घंटे, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष, अविच्छिन्नरूप से हुआ करता है—कोई ख़ास घंटा या मिनट मुक़र्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्य-शाला का दरवाज़ा खुलेगा। न फ़ीस का कोई नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस-इस दरजे की फ़ीस ली जायगी। उस बड़े नटनागर ने सबोंको अपना अभिनय देखने का आज्ञा दे रक्खी है। उसकी नज़र में कोई छोटा या बड़ा है ही नहीं। उसका प्राणिमात्र पर एक भाव और सबोंके साथ एक-सा बर्ताव है—

"बाबा वह दरबार हमारा, हिन्दू-मुसलमान से न्यारा ।
जहाँ अनेक, मुसल न होई, पण्डित, मुल्ला धर्म न कोई ।"

समस्त जीवराशि का निरंतर कोलाहल इस नाट्यशाला की संगीत

है। एक ओर जयध्वनि-पूरित हर्षनिस्वन, दूसरी ओर क्लेश और करुणा में भरी हुई रोने की आवाज़ तथा जीवराशि-रूपी अद्भुत यंत्र के अनोखे तान दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक में मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करते हैं। सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र, सरित्, समुद्र, अभ्रंलिह, अत्युच्च शिखरवाले हिमधवलित पर्वत इत्यादि कारण-सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर भी उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाए जाते हैं, वे सब नए-से-नए और टटके-टटके होते हैं। अचिंत्य-चातुर्य-समन्वित, विराट् मूर्तिमय यह संपूर्ण जगत् देख देखनेवाले के मन में रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रस एकसाथ स्थान पाते हैं और उस "पुरुष पुरातन", "महाकवि" की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अंतर उस बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक में यह है कि हम लोग इस दृश्य-काव्य नाटक में असल की नक़ल कर दिखाते हैं और वह अपने नाटक में जो कुछ नक़ल कर रहा है, वह माया जवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखनेवालों के चित्त में उसकी भाँति-भाँति की नक़ल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं और उसके अचिंत्य दिव्य रूप को, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बड़े-से-बड़ा, ऊँचे-से-ऊँचा, दूर-से-दूर, समीप-से-समीप है, सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और-का-और समझ गोते खाया करते हैं। और निन्नानवे के फेर में पड़ इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकड़े हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक़्क़ी की अनेक चेष्टा करते हैं किंतु किसी अदृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं, वह नहीं होता—

"अपना चेता होत नहिं, प्रभु-चेता तत्काल"

जिसका कभी सपने में भी ख़याल नहीं किया जाता, वह आ

पड़ता है। हमें पात्र बनाकर जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा करना आरंभ किया था, वह यदि पूरा उतर आया, तो हम फूले नहीं समाते और भाग्यवानों की श्रेणी में अपना अव्वल दरजा क़ायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छंद निरंकुश हो उस छिपी दैवी शक्ति पर ज़रा भी ध्यान न दे "हम सब भाँति समर्थ हैं" यही समझने लगते हैं; बड़े शूरवीर योद्धा सम्राट् चक्रवर्ती जिनकी एक बार की भ्रुकुटि-विक्षेप में भूडोल आ जाने की संभावना है, उनके भी हम महाप्रभु हैं; राम, युधिष्ठिर तथा सिकंदर और दारा प्रभृति विजेता जगद्विजयी हमारे आगे किस गिनती में हैं; उशना और वाचस्पति को तो हमारा धार्मभक्त देख शरम आती ही है; चतुरानन भी अपनी चतुराई भूल अचरज में आकर हक्का-बक्का बन बैठता है; हम सब भाँति सिद्ध हैं, पूर्णकाम हैं; न हमारे सदृश किसी ने यत्न किया होगा, न हम-सा दानी कोई दूसरा है; आज हमने एक मुल्क फ़तेह किया, कल दूसरा अपने वश में कर लेंगे, अपने विरुद्ध शत्रुओं को बीन-बीनकर मार डालेंगे, एक को भी जीता न छोड़ेंगे; कटक से अटक तक हमारी पताका फहरा रही है, संसार की कोई जाति या फ़िरक़े नहीं बचे, जिनके बीच यदि हमारा नाम लिया जाय, तो वे थर्रा न उठते हों; हम सभ्यता की चरम सीमा को पहुँचे हैं, किसकी इतनी हिम्मत या ताक़त है, जो हमारी बराबरी कर सके; तुम जित हो, हम विजेता हैं, हम तुम्हारे स्वामी हैं, प्रभविष्णु हैं, हम जो करेंगे या सोचेंगे, सब तुम्हारी भलाई के लिये करेंगे और सोचेंगे, हम जो क़ानून गढ़ दें, वही तुम्हारे लिये व्यवस्था है; तुम हमारे वशंवद हो, इसलिये हम जो कहें, वह तुम्हें करना ही पड़ेगा; हमारा खान, हमारा पान, हमारी रहन, हमारी सहन सबमें हमारे समान बनो; देखो, सम्हले रहो, कहीं किसी बात में अपनापन न आने पावे; तुम्हें जब हम किसी बात में अपनापन ज़ाहिर करते देखेंगे", तो

हमारा जी छूट जाता है, जो कुछ तुम्हारी भलाई भी कभी किसी तरह हो सकती, उसे भी हम रोक देते हैं; हम नहीं चाहते कि ऐसी कोई बात का अंकुर भी रह जाय, जिसमें तुम और पकड़ हमारी बराबरी करने लगो, इत्यादि भाव हमारे मन में उस समय उठने लगते हैं, जब उस छिपी दैवी शक्ति की प्रेरणा से हम कृतकार्य और सफल-मनोरथ हो जाते हैं।

वही यदि अपनी कर्तव्यता में हम कृतकार्य न हुए और जो अभिनय वह हमसे करा रहा है, वह पूरा न उतरा, तो हम उदास, विषण्णवदन, अत्यंत दुःखी हो जाते हैं, उस समय ज़िंदगी हमें फीकी मालूम पड़ती है। बल्कि महाशोक-ग्रस्त हो ऐसे समय हम लोग जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इस तरह पर इस संसार-नाट्यशाला में उस महापुरुष के अनेक खेल हैं, जिन्हें वह क्रीड़ा-विलसित के समान सर्वथा स्वच्छंद हो जब जैसा चाहता है, वैसा अभिनय करता है।

८—पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता

पुरानी सभ्यता का उद्देश्य "Simple living and high thinking" अर्थात् साधारण जीवन और उच्च विचार था। हमारे पुराने लोग शून्य एकांत स्थान में जन-समाज से बड़ी दूर किसी पर्वत-स्थली या पवित्र नदी के तट पर स्वच्छ जल-वायु में नीवार, साग-पात या कंद-मूल, फल आदि खाकर रहते थे। बेशक़ीमत दस्तरख़ान उनके लिये नहीं मनाया जाता था। पर विचार उनके ऐसे ऊँचे होते थे कि संसार की कोई ऐसी बात न बच रही, जिस पर उन्होंने ख़याल नहीं दौड़ाया और जिसको अपने मस्तिष्क में नहीं रख लिया। इस समय की सभ्यता का जो चलन है, उसके साथ उनकी सभ्यता का मुक़ाबला करने से वे लोग जंगली और असभ्य (Rude) कहे जा सकते हैं। सब के लोगों को शांति बहुत प्रिय थी। जो जितना ही मन को वश में कर दमनशील और शांत रहता था, वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता था। इस समय शांतशील बोदा समझा जाता है। मन को वश में करना तो दूर रहा, बल्कि मन को चलाय-मान और इंद्रियों का अतिशय लालन करने की कितनी तदबीरें और सामग्रियाँ चल पड़ी हैं। फ़ ्रांस में दिन में तीन बार लेडियों के फ़ैशन बदले जाते हैं। फ़ैशन जो इस समय अंतिम सीमा को पहुँच रहा है, यह सब सभ्यता ही का प्रसाद है। इसके सिवा लोभ, ईर्ष्या, ममता इत्यादि दोष जो इंद्रियों को दमन न करने से पैदा होते हैं, वे सब इस समय की शोभा और गुण हो रहे हैं। सारांश यह कि उस समय की सभ्यता का लक्ष्य केवल बाहरी उन्नति पर नहीं वरन्, भीतर की उन्नति पर था, जिसे आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं। हमारा आध्या-

सिक उन्नति में सिवा बाधा पड़े बाह्य भौतिक (Material) उन्नति उस समय लोगों को स्वीकृत थी। इस समय "मेटीरियल" (भौतिक) उन्नति पर ज़ोर दिया जाता है, जिसका परिणाम यह है कि हम आध्यात्मिक विषय में दिन-दिन गिरते जाते हैं।

हमारी आधुनिक सभ्यता बिलकुल रुपए पर निर्भर है। रुपया पास न हो, तो आप सकल-गुण-सहित शिष्ट-समाज के सिरमौर होकर भी बहादुर नहीं हो सकते। सर्वसाधारण को जब यह निश्चय हो गया कि केवल रुपया सब इज़्ज़त और प्रतिष्ठा का द्वार है, तब जैसे बने, वैसे रुपया इकट्ठा करना ही हमारा उद्देश्य हो गया और हमारी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास दिन-पर-दिन होने लगा। किंतु तब के लोगों में ऐसा न था। आभ्यंतरिक शक्तियों को विमल रख रुपए का लाभ होता हो, तो वह लाभ उन्हें ग्राह्य था। एक कारण इसका यह भी कहा जा सकता है कि तब देश सब ओर से रँजा-पुँजा था, धन की कमी न थी; अब इस समय मुल्क में ग़रीबी बढ़ जाने से लोगों को रुपया कमाने में यत्न (Struggle) विशेष करना पड़ता है। योरप और अमेरिका के आढ्यतम देशों में इस आधुनिक सभ्यता की पोल इसलिये नहीं खुलने पाती कि वहाँ कोशिश (Struggle) इतनी नहीं है। यहाँ सब भाँति अभाव और क्षीणता है, इससे इस वर्तमान सभ्यता की भरपूर पोल खुल रही है।

सभ्यता का देश के जल-वायु के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है। किसी देश में प्राकृतिक नियमानुसार जो बात या जो बर्ताव जल-वायु के अनुकूल पड़ता है, वही वहाँ की सभ्यता समझी जाती है। जैसे हमारा देश कृषि-प्रधान है, सो जो कुछ यहाँ की खेती के अनुकूल या पृथ्वी की उपज का बढ़ानेवाला है, उसकी वृद्धि या उसका पोषण इस देश की सभ्यता का एक अंग है। जैसे गोरक्षा या गो-

पालन यहाँ की सभ्यता का श्रेष्ठ अंग है। सामयिक सभ्यता में गोधन की क्षीणता महापातक-सा देश-भर को आक्रमण किए है। हमारे पूर्वज प्रकृति को छेड़ना नहीं पसंद करते थे, वरन् प्रकृति में विकृति-भाव बिना लाए सहज में जो काम हो जाता था, उसी पर चित्त देते थे। आधुनिक सभ्यता, जो विदेश से यहाँ आई है, हमारी किसी बात के अनुकूल नहीं है; किंतु इससे प्रतिदिन हमारी क्षीणता होती जाती है। भोग-विलास आधुनिक सभ्यता का प्रधान अंग है। दरिद्र का विलासी होना अपना नाश करना है। देखिए—

"उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति"

अर्थात्—अपने से अधिकवाले का अनुकरण करने से कौन नहीं दरिद्र हो जाता। तस्मात् अंत को यही सिद्ध होता है कि "साधारण जीवन और ऊँचा विचार" यही पुष्ट सभ्यता है। अस्तु—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार।

६—जवानी की उमंगें

मनुष्य के जीवन में जवानी की उमर भी एक बड़ी ताकत है
फूल जब तक कली के रूप में रहता है, तब तक वह डाल और प
की आड़ में मुँदा हुआ न-जाने किस कोने में पड़ा रहता है।
खिलने के साथ ही अपनी सुवास, सौंदर्य और सोहावनेपन से स
के नेत्र और मन-मधुप को अपनी ओर खींच लाता है, और कि
तरह छिपाए नहीं छिप सकता। कली होने पर वह किस उठान
उठा था, तथा क्या-क्या उसमें गुन-ऐगुन थे, यह सब खिलने के स
ही एकबारगी खुल पड़ते हैं; आगे को अब उससे क्या-क्या उम
है, सो भी उसका इस समय का विकाश प्रकट कर देता है। मनुष्यों
इसी बात को हम "उमंग" के नाम से पुकारते हैं, जो हम लो
के भविष्य आशाबंध को मज़बूत या ढीला करती है। "आत्म
नावमन्येत" मनु की इस आज्ञा के अनुसार उन्नतमना तथा ऊँ
तबियतवालों में उमंग सदा ऊपर को उठने के लिये होती है; जप
निकृष्ट, मलिनसंस्कार तथा मैली तबियत के लोगों में पहले तो उ
उठती ही नहीं, और उठी भी, तो सदा नीचे गिरने की ओर हो
है। नवयुवक में ऊँची उमंग देख आशा-लता लहलहाती हुई लि
हद होती जाती है; उनमें उस उमंग का अभाव या उसे नीचे
ओर जाते हुए पाकर आशा-लता सूखकर मुरझाती हुई ढीली प
जाती है। हम उत्तम श्रेणी में दाख़िल हों, इसके लिये यत्न कर
किसी ख़ास एक आदमी के हिस्से में नहीं पड़ा, वरन् हरए
आदमी को इसकी कोशिश करना मनुष्य-जीवन की सफलत
[illegible] काम है। यह नौजवान, जो ऊपर के [illegible]

देगया, निश्चय है, नीचे को मारेगा; उस तीर चलानेवाले का निशाना, जो अपनी शस्त्र-विद्या से आकाश को वेध डालना चाहता है, वहाँ तक ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ के ऊपर तक न जायगा। जिसके ऊँचे-से-ऊँचे ख़याल हैं या जिसका ऊँचे-से ऊँचे बर्ताव का क्रम है, वह वहाँ तक अपने ख़याल और बर्ताव में उस आदमी से बेहतर न होगा, जिसमें उन बातों का अंकुर भी नहीं है। बोलचाल और काम में कपट या कुटिलाई का अभाव मनुष्य में चरित्र पालन के लिये पीठ की रीढ़ के समान सहारा है, और सचाई पर रहना तो मानो चरित्र का मुख्य अंग है। इसलिये ऊँची उमंगवाले युवक जनों को चरित्र-पालन के इन दो प्रधान साधनों को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिए। दूसरा बड़ा दोष नौजवानों में बनावट (Assumption) का है। जैसे बाज़ कीड़े न-जाने कहाँ से पैदा हो फूल के विकाश के पहले ही, जब वह कली रहती है, उसे नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही इस बनावट का अंकुर नवयुवकों में तारुण्य के विकाश के पहले स्थान कर लेता है। हज़ारों-लाखों नौजवान इस तराश-ख़राश, बनावट-सजावट के पेच में पड़, दुर्व्यसनी हो बीस या पचीस वर्ष की उमर तक पहुँचने के पहले ही लोहे-ताँबे उतर चुकते हैं तथा जो समय उनके पूर्ण विकाश का है, उसमें जराजर्जरित हो जाते हैं। इसलिये नई उमंगवालों को इस बनावट कृमि से अपने को बचाने के लिये बड़ी चौकसी रखना उचित है। किसी बुद्धिमान् गंभीराशय का कथन है—

"Always endeavour to be really what you would wish to appear"

अर्थात् हमेशा इस बात की कोशिश करते रहो कि तुम अपने ...ों में वैसा ही ज़ाहिर करो, जैसा तुम वास्तव में भीतर से ...ों में नुमाइश का आना उमर का तक़ाज़ा और उनकी

नई-नई उमंगों का एक अंग समझा जाता है, पर उसका न होना बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। शाहिरदारी या मुसाहब को दूर रखकर जो उमंगें उठती हैं, वे नौजवान के भविष्य जीवन में महोपकारी हो उनको महापुरुष (Greatman) बना देने में सहायी होती हैं। इस प्रकार की उमंग से यह धीरे-धीरे गुलजार करने महत्त्व की आलीशान इमारत तैयार बनाया जाता है। कुँवार-कातिक में जो शरत्कालीन बादल उठते हैं, वे जितना गरजते हैं, उतना बरसते नहीं। पर बरसात में जो बादल आते हैं, वे इतना गरजते नहीं, पर वसुधा को सब ओर से जलमग्न कर देते हैं। वैसा ही ओछे-छिछोरे भड़क बहुत दिखलाते हैं, पर करतूत बहुत कम उनमें देखी जाती है। किंतु जो गुरुता-संपन्न होते हैं, वे मुख से कुछ नहीं कहते, वरन करके दिखला देते हैं—

"फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।"

"करतूती कहि देत आप नहिं कहिए भाई।"

"गर्जति शरदि न वर्षति,
वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः ;
नीचो वदति न कुरुते,
न वदति सुजनः करोत्येव कार्यम्।"

ये सब वाक्य ऐसों ही के लिये कहे गए हैं।

नौजवानी की उठती उमर ऐसे अल्हड़पन की होती है कि इस उमर में दूरंदेशी (precaution) या पूर्वविधान बिलकुल नहीं रहता, बल्कि बुरी आदतें एक-एक करके पड़ती जाती हैं। जिस समय उन ख़राब आदतों का आना आरंभ होता है, कुछ नहीं मालूम होता ; जैसा पहाड़ों पर जब बर्फ़ गिरने लगती है, तब कभी किसी के ध्यान में भी नहीं आता, पीछे थोड़ा-थोड़ा करके जमा ह होते वही हिम-संहति (Avalanche) हो जाती है। तब स की तेज़ गरमी

भी उसे नहीं छिपा सकती। इसी तरह अल्हड़पन की उमंग में ख़राब आदतें जब आना शुरू होती हैं, तब उस पर बहुत ध्यान नहीं आता, पीछे वही इतनी दृढ़ और बद्धमूल हो जाती हैं कि आमरणांत जन्म-भर के लिये दामनगीर हो जाती हैं; हज़ार-हज़ार उपाय उनके हटाने के किए जाते हैं, कोई कारगर नहीं होते। इससे जब तक गदह-पचीसी का यह नाज़ुक वक़्त गुज़र न जाय, तब तक बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। इस नाज़ुक वक़्त में यदि भलाई का बीज न बोया जाय, तो बुराई आप-से-आप आ जाती है; जैसे खेत, जिसकी धरती बहुत फलवंत और उर्वरा है, जोता-बोया न जाय, तो लंबी-लंबी घास उसमें ख़ुद-बख़ुद उपज जाती है—

"Vice quickly springs unless we goodness sow;
Rankest weeds in richest garden grow"

बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि आदत या बान पड़ते-पड़ते पीछे दृढ़ और बद्धमूल हो स्वभाव हो जाती है। योरप के एक दार्शनिक का मत है कि "मनुष्य पाप या पुण्य आदि जो कुछ करता है, वह सब उसकी वैसी बान पड़ जाने का नतीजा है।" ख़ुलासा यह कि स्वभाव से बहुत कम काम होते हैं, जो कुछ किया जाता है, वह सब आदत है। तो आदमी क्या है, मानो जुदी-जुदी तरह की आदतों का एक गट्ठर है। इसी से यह कहावत चल पड़ी है "Habit is a second nature" अर्थात् आदत दूसरे तरह का एक स्वभाव है। इस कहावत का सबूत यह है कि यदि धैर्य, गांभीर्य, विचारशीलता, संयम आपकी आदतों में दाख़िल हो जायँ, तो छिछोरापन, उथलापन, साहस आदि से आपको चिढ़ हो जायगी। ऐसा ही जो ओछी-छिछोरी आदत का है, उसको संयमी, विचारवान्, गंभीराशय काहे को भले लगेंगे। एवं ——रेर, कुटिलाई इत्यादि जिसकी आदत में दाख़िल हो ‹ पड़ती और अन्न नहीं पचता, जब तक वह

किसी का कुछ चबाव या किसी की चुग़ली अथवा हेर-फेर की कोई एक बात न कर ले । तो नवयुवक को सावधान रहना चाहिए कि वे बुरी आदतें उसमें क़दम न जमाने पावें, नहीं तो वे जन्म-भर छुड़ाए न छूटेंगी ।

ये सब गुण-अवगुण जिन्हें हमने ऊपर कहे हैं, प्रतिक्षण बड़े ज़ोर के साथ बढ़ते हुए आदमी के चरित्र को या तो शोभित करते हैं या उसे दग़ीला कर डालते हैं, जिससे वह अपने में चरित्र-पात्र की शेष बातों को भी नहीं बचा सकता । जो सफ़ेद कपड़ा पहने हुए है, वह कपड़ों के मैले होने के भय से जहाँ-तहाँ बैठते सकुचता है; जो मैला कपड़ा पहने हुए है, उसे क्या, वह जहाँ चाहे, वहाँ बैठ सकता है—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ,
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ।

जैसे उजाला छोटे-से छिद्र के द्वारा भीतर प्रवेश कर अंधकार को दूर हटा देता है, वैसे ही आत्मगौरव का अणु-मात्र भी उपपात्र मनुष्यों को बुराई या बुरी आदतों की ओर से अलग करता है। जिनके आँख का पानी ढरक गया है और शरम और हिजाब को धो बैठे हैं, उन्हें नीचे-से-नीचा काम करने में संकोच नहीं रहता। नौजवानों में इसके नमूने बहुत-से पाए जाते हैं । नई उमंग में बहुधा नौजवान आत्मगौरव का ध्यान न रख बड़ों की बड़ाई रखने में चूक जाते हैं, जिससे वे संसार में बदनाम हो आवाराशील और धृष्ट की उपाधि पाते हैं । इसलिये बड़ों की बड़ाई रखना मानो अपना बड़प्पन बढ़ाना है ।

१०—पौगंड या कैशोर

बालक की पाँच से चौदह या पंद्रह तक जो अवस्था है, उसे पौगंड या कैशोर अवस्था कहते हैं। तारुण्य के विकाश के पहले जो समय मनुष्य का होता है, वह कैसे सुख का रहता है। उस समय बालक का चित्त तुरंत के मथे मक्खन के समान कोमल, निर्मल और सर्वथा विकारशून्य रहता है। उस समय जो-जो बातें उसके नेत्रगोचर होती हैं, उन्हें उसका निष्कपट, सरल चित्त, बिना शंका-समाधान के ऋजु-भाव से ग्रहण कर लेता है। तरुणाई का प्रवेश होते ही बाल्यकाल के वे सब सुख सपने के ख़याल-से हो जाते हैं। सरल भाव, अकुटिल निष्कपट प्रीति, उदार व्यवहार और पहले का-सा वह अल्हड़पन अब कहीं नाम को भी न रहा। स्कूल या पाठशाला में नित्य का जाना, मोटी-मोटी किताबों का बोझ लादने का अभ्यास, सहपाठियों के साथ एकांत गोष्ठी, अध्यापक या मास्टर साहब की उत्साह बढ़ाने-वाली उपदेश-भरी बानी, मेला, तमाशा या तरह-तरह के खेल-कूद में नई-नई उमंग का अब कहीं संपर्क भी न रहा। हमारे साथ के पढ़नेवाले सब मित्र अब हमें अवश्य भूल गए होंगे; जिन्हें कुछ याद भी होगी, तो वही स्नेह अब काहे को होगा, जैसा उस समय था, जब हम उनके साथ एक ही बेंच पर सटकर बैठते थे और मास्टर साहब को अनेक तरह का भुलावा और जुल दे काना-फुस्की में भाँति-भाँति की गप्पें हाँक-हाँक प्रसन्न होते थे। मास्टर साहब जैसा देखने में कड़े और सख्तमिज़ाज थे, यह हम सब ख़ूब जानते थे। न केवल हमीं, वरन् हमारे समान नटखट जितने लड़के हैं, सभी जानते होंगे। हम लोगों में से जो कोई कभी उनकी इच्छा के प्रतिकूल कोई काम कर गुज़रता था,

तो यह सबेरे की जूल स्कूल खुलते ही साक्षात् रुद्र-मूर्ति अध्यापक मा
शय की भौं चढ़ी तिरछी चितवन देखते ही भट भाँप लेता था कि
देखें, आज हम पर क्या भद्रा उतरे, ईश्वर ही कुशल करे। सदा
कड़ाई करते रहे हों, सो भी नहीं, कभी-कभी हँसाते इतना थे
ऐसी बात बोलते थे कि हँसते-हँसते पेट फूलने लगता था। ज
क्रोध में भर शेर-सा तड़प गरजने लगते थे, तब क्लास-भर में
छा जाता था और हम सब लोग मौन हो बकरी-सा दबके
रहते थे। उनकी ये सब बातें ऊपर से केवल रोब जमाने के
थीं। भीतर से वे ऐसे कृपालु, कोमल और सरस हृदय थे, मानो
रस हों।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूराः भुजगमपुंगवाः ;
अन्तःसाक्षाद्द्राक्षा दीक्षागुरवो जयन्ति केपि जनाः।"

जो घुड़कते-झिड़कते थे, सो सब इसीलिये कि हम अपना
याद करने में सुस्त और आलसी न हो जायँ। अँगरेज़ी के
कवि गोल्डस्मिथ ने अपने काव्य Deserted Village में
अच्छा चित्र इसी का उतारा है—

"A man severe he was and stern to view
I knew him well and all the truant knew
Well had the boding tremblers learn'd
The day's disasters in his morning face ;
Full well they laugh'd with counterfieted
At his jokes for many a joke had he ;
Full well the busy whisper circling round
Conveyed the dismal tiding when he fro
Yet he was kind or severe in aught,
... bore to learning was in fau
T

अब वह कोई बात न रही। अब कैसे-कैसे कृत्रिम, नीरस कारा-
गार की यन्त्रणा के सदृश मानसिक भाव हमारे चित्त में उठा
ते हैं। बहुत चाहते हैं कि वे सुख-चैन के दिन अब फिर आवें,
वे अब क्यों नहीं आते ? जी चाहता है, मोहन, मदन, गुड्डू से
र वैसा ही गप्प होवे; सब वैसा झगड़े मार-मार हँसा करते थे
र जिन कारण हँसी आती थी, अध्यापक महाशय कितना खिज-
ते-फुँफकाते थे, पर हम एक नहीं मानते थे। अब वैसी हँसी एक
र भी आवे, तो नोन, तेल, लकड़ी की चिन्ता के कारण दुःख-दुर्भर
दय के दुःख का बोझ कितना हलका हो जाय; पर वैसी हँसी अब
हे को आवेगी ! अब पहले के माफ़िक़ हम उन छोटे-छोटे बालकों
बेधड़क क्यों नहीं जा मिलते ? अब हमारा उनके साथ मिलना
ग का पहुड़ा बनना क्यों जान पड़ता है ? पहले के समान सरल
हृदय भाव से वे अब हमसे क्यों मिलेंगे ?

कवियों ने युवावस्था को "सब सुखों की खान" लिखा है;
न्तु यह सब उन धूर्तों की जल्पना-मात्र है—"कवयः किम् जल्पन्ति।"
स समय तो हमारा पूर्ण यौवन है, फिर हमें सुख क्यों नहीं
मिलता ? माना कि जवानी का आलम बड़ा मज़ेदार और दिलचस्प
होता है। इसमें हमें दुनिया की सब तरह की लज़्ज़तों का मज़ा
मिलता है। आशिक़ी का मज़ा उठाते हैं; माशूक़ों की लज़्ज़त चखते
; नवयौवन के उमंग में बड़े-बड़े काम सहज में कर डालते
; नई जवानी, नया जोश, नई उमर, नवीन उत्साह, नूतन
अभिलाष, जितनी बात सब नई; पुरानी कोई नहीं। किन्तु विचार-
दृष्टि से देखो, तो सिवा हिर्स हवा के लड़कपन का वह वास्तविक सच्चा
सुख कहीं नाम को नहीं। धिक् ! यह वह समय है, जिसमें जो कुछ
करते हैं, किसी से तृप्ति और संतोष नहीं होता। जितना भोग-विलास
करते जाते हैं, जी नहीं ऊबता, बरन् चौगुनी लालसा बढ़ती है—

"हविषा कृष्णवत्मेंव भूय एवाभिवर्द्धते ।"

जैसे आग में घी छोड़ने से आग चौगुनी धधकती है। अनगिनती रुपया पैदा किया, बड़ी-बड़ी विद्याएँ सीखीं, बहुत तरह के गुण उपा- र्जन किए, संसार में सब ओर अपना यश फैलाया; पर तृप्ति न हुई; हवस नित-नित बढ़ती ही गई; सदा यही इच्छा रहती है, थोड़ा और होता, तो अच्छा था। आज एक काम सिद्ध हो जाने पर मन आनंद से पूर्ण हो जाता है; उस समय यही मालूम होता है, मानो स्वर्ग-सुख भी तुच्छ और फीका है। यही किसी काम के बिगड़ जाने पर ऐसी उदासी छा जाती है कि समस्त संसार असार जँचता है सुतरां अंत को यही सिद्धांत ठहरता है कि यौवन-सुख केवल भ्र लालसाओं के सिवा और कुछ नहीं है। सच्चे सुख का समय केवल बाल्य-अवस्था है।

११—शब्द की आकर्षण-शक्ति

"शब्द की आकर्षण-शक्ति" न्यूटन की आकर्षण-शक्ति से लव-मात्र भी कम नहीं कही जा सकती। बल्कि शब्द की इस शक्ति को न्यूटन की आकर्षण-शक्ति से विशेष कहना चाहिए। इसलिये कि जिस आकर्षण-शक्ति को न्यूटन ने प्रकट किया है, वह केवल प्रत्यक्ष में काम दे सकती है। सूर्य पृथ्वी को अपनी ओर खींचता है, पृथ्वी चंद्रमंडल को, यों ही जितने बड़े पदार्थ हैं, सब छोटे को आकर्षण कर रहे हैं। किंतु एक पदार्थ दूसरे को तभी आकर्षण करते हैं, जब वे दोनों एक दूसरे के मुक़ाबले में हों। पर शब्द की आकर्षण शक्ति में यह आवश्यक नहीं है। यह बात ज़रूरी नहीं है कि शब्द की आकर्षण-शक्ति तभी असर रखती हो, जब नेत्र भी वहाँ योग देता हो। इन शब्दों का जितना ही अधिक समूह बढ़ता जायगा, उतनी ही उनमें आकर्षण-शक्ति भी अधिक होती जायगी। प्रत्येक जाति के धर्म-ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। वेदादि धर्म-ग्रंथ जो इतने माननीय हैं, सो इसलिये कि उनमें धर्म का उपदेश ऐसे शब्द-समूहों में है, जो चित्त को अपनी ओर खींच लेते हैं और ऐसा चित्त में गड़के बैठ जाते हैं कि हटाए नहीं हटते। न्यूटन ने जिस आकर्षण-शक्ति को प्रकट किया, वह उनके पहले किसी के दिलों को आकर्षित न कर सकती थी। वृक्ष से फल का टूटकर नीचे गिरना साधारण-सी बात है, पर किसी के मन में इसका कोई असर नहीं होता। न्यूटन के चित्त में अकस्मात् आया कि "यह फल ऊपर न जा नीचे को क्यों गिरा?" अवश्य इसमें कोई बात है। देर तक सोचने के उपरांत उसने निश्चय किया कि उसका कारण यही है कि "बड़ी चीज़ छोटी को खींचती है।" पर शब्द की आकर्षण-

शक्ति में इतना असर है कि वह मनुष्य की कौन कहे, वन के मृगों को भी मुग्ध कर देती है। कोयल का पंचम स्वर में अलापना सबों को क्यों भाता है, इसीलिये कि मीठी आवाज़ (Meflodiousv oice) सबोंको सुखद है। बीन इत्यादि बाजे भी लोगों को क्यों रुचते हैं, इसीलिये कि ये कान को सुखद और मन को आकर्षण करनेवाले हैं।

केवल शब्द की मधुर ध्वनि में जब इतना प्रलोभन है, तब यदि उन शब्दों में अर्थचातुरी भी भरी हो, तो वह कितना मन को खींचनेवाला न होगा! अलंकारों में अनुप्रास (Alliteration) कितना कर्ण-रसायन है, पर उसमें अर्थचातुरी न रहने से वह आलंकारिकों में इतनी प्रतिष्ठा नहीं पाता। यदि किसी काव्य में पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थचातुरी भी हो, तो उसके समान बहुत कम काव्य निकलेंगे। जैसा दामोदर गुप्त का यह श्लोक है—

> "अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ;
> अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।"

अर्थात्—कोई विरहिणी नायिका अपने प्रियतम के वियोग में कामाग्नि से व्याकुल हो अपनी सहेली से कह रही है—"कामाग्नि के दूर करने को जो तुमने यह घनसार (चंदन) हमारे शरीर में पोत रक्खा है, उसे अपसारय (दूर करो), इसलिये कि चंदन से तो और भी कामाग्नि धधक उठेगी। मोतियों का हार उतार लो। कमलों से क्या होगा, वह भी ठंडक न पहुँचा सकेंगे। अलमलमालि मृणालैः (ठंडक के लिये जो मृणाल मेरे ऊपर धरा है उसे हटाओ)—इस भाँति वह बाला दिन-रात कहर-कहर तुम्हारे वियोग में रोया करती है।

तुलसी और बिहारी के काव्यों में ऐसा बहुत ठौर पा गया है, जहाँ अनुप्रास की मिठास और अर्थचातुरी दोनों एकसाथ आई हैं। कुछ उदाहरण उनके यहाँ पर हम देते हैं—

"टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति ;
फिरत रसोई के घरन जगर-मगर घति होति ।
मानहु मुख-दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग ;
सासु सदन मन ललन हूँ सौतिन दियो सुहाग ।
भूषन-भार सम्हारिहै किमि ये तन सुकुमार ;
सूधे पाय न धरि परत महि सोभा के भार ।
लगालगी लोचन करें, नाहक मन बँधि जाय ;
देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों-ज्यों जोबन जोति ;
त्यों-त्यों लखि सौतें सबै बदन मलिन दुति होति ।

तुलसी का जैसा—

"तुलसी सराहत सकल सादर सील सहज सनेह की ।"

"धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी ।
दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी ।
सील सनेह सरल रससानी ॥

अँगरेज़ी में भी कहीं-कहीं पर ऐसा है। जैसा पोप की इस पंक्ति में—

"The sound should seem an echo to the sense"

अर्थात्—शब्द ऐसे होने चाहिए, जिनमें कि अर्थों की गूँज-सी निकले। जैसा कालिदास का—

"कन्यान्तलामकमनीयमजस्य लिप्सो. ।"

भवभूति का जैसा—

"कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटा" ।

इत्यादि वैदर्भी रीति और प्रसाद-गुण इस तरह के काव्यों के प्राण हैं। पोप की एक और भी बानगी है—

"How high His Highness holds his haughty head."

पर इसमें अर्थचातुरी का अभाव है। शेक्सपियर के—
"His heavy-shotted hammer shroud"
इस पद में अनुप्रास अर्थ-चातुरीसहित है।

तात्पर्य यह कि जो अनुप्रास विना प्रयास आ जाय तथा जि द्वारा अर्थ में भी अधिक सौंदर्य बढ़ आय, तो वह सर्वथा श्लाघ पर जिस अनुप्रास के पीछे अर्थचातुरी की हत्या करना पड़े, तो वह! प्रास किस काम का! कालिदास के—

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।"

इस श्लोक में अनुप्रास विना बनावट के आ गया है। इससे बहुत उत्तम अनुप्रास का उदाहरण है। जयदेव कोकिलकंठ इसी कहलाए कि उनके पदों में आलंकिक अर्थचातुरी से कहीं पर प्र नहीं है। जैसा—

"ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।"

प्रसाद—गुण-विशिष्ट अनुप्रास, जैसा—

"परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्"

वैदर्भी रीति का अनुप्रास, जैसा—

"कुतोऽवीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचनपथम्
त्वमापीता पीतांबरपुरनिवासं वितरसि।
त्वदुत्संगे गंगे! पतति यदि कायस्तनुभृताम्
तदा मातः! शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः॥"

अर्थात्—हे गंगे! तुम्हारी वीचि (लहर) यदि नेत्रपथ में जाय, तो अवीचि (नरक या पाप) कहाँ। तुम जलरूप में छो ली जाओ, तो पीतांबरपुर (वैकुंठ-धाम) का वास दे देती हो। तुम्हारी गोद में जो देहधारी-मात्र का शरीर आ गिरे, तो शातक्र (इंद्र के) पद का

१२—माता का स्नेह

वात्सल्य-रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूँढ़ने से भी न पाइएगा।

सच है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

मातृस्थानापन्न दादी, दादा, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह बहुत औचित्य-विचार और मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है किंतु माता तथा पिता का स्नेह पुत्र में निरे वात्सल्य-भाव के म[illegible] पर है। अब इन दोनों में भी विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्व[illegible] प्रेम किसका है? इसकी समालोचना आज हमारे इस लेख का मु[illegible] उद्देश्य है। लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ते हैं; पर सू[illegible] विचार से देखिए, तो बालकों में हरएक अच्छी बातों का अंकुर गुरु री[illegible] पर प्यार ही से जमता है। विलायत के एक चतुर चितेरे ने लिखा है "मेरी माँ के एक बार चूम लेने ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया गुरु और उस्ताद जितना हमें पाठशालों में भय और ताड़ना दिखला वर्षों में सिखला सकते हैं, उतना अपने घर में हम सुत-वत्सला माँ के प्र[illegible] निर्मल सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। माँ के स्वाभावि[illegible] सच्चे और बेबनावटी प्रेम का प्रमाण इससे बढ़कर और क्या मि[illegible] सकता है कि लड़का कितना ही रोता हो या बिरझाया हुआ। माँ की गोद में जाते ही चुप हो जाता है। इसी तरह जहाँ थो[illegible] देर तक लड़के ने दूध न पिया, तो माँ के स्तन भी दूध से भर [illegible] हैं, दूध टपकने लगता है और वह विकल हो जाती है। बिरप[illegible]

के उपरांत पिता अलग हो जाता है। दस मास तक गर्भ में धारण का क्लेश, जनने के समय की पीड़ा, उसके पालन-पोषण की चिंता और फ़िकर, उसे नीरोग और प्रसन्न देख चित्त का हुलास, रोगी तथा अनमन देख अत्यंत विह्वल होना इत्यादि सब माता ही में पाया जाता है। माता और पिता के स्नेह का तारतम्य इससे अधिक स्पष्ट और क्या हो सकता है कि लड़का कुपूत और निकम्मा निकल जाय, तो बाप कभी उसका साथ नहीं देता, बल्कि घर से निकाल अलग कर देता है; पर माँ बहुधा सात भाँवरवाले पति को भी त्याग निकम्मे पुत्र का साथ देती है। बंगालियों में तथा हमारे देश के कनौजियों में, जिनके बीच बहुविवाह प्रचलित है अर्थात् पुरुष बहुत-सी स्त्रियों को ब्याह लेने की बुराई को बुराई नहीं समझते, इसके बहुत-से उदाहरण पाए आते हैं। दो-चार नहीं, वरन् हज़ार-पाँच सौ ऐसी भी देखी गई हैं, जिन्होंने बालक की अत्यंत कोमल अवस्था ही में पिता के न रहने पर चक्कियाँ पीस-पीस अपने पुत्र को पाला और उसे पढ़ा-लिखाकर सब भाँति समर्थ और योग्य कर दिया। पुत्र भी ऐसों के ऐसे-ऐसे सुयोग्य हुए हैं कि जैसे सब भाँति भरे-पुरे घरानों में भी न निकलेंगे। जब महाकवि श्रीहर्ष केवल पाँच वर्ष के थे, तो उनके पिता ने वाद में पराजित हो लाज से तन त्याग दिया। तब उनकी माँ ने चिंतामणि-मंत्र का उनसे जप करवाकर तथा सरस्वती देवी का कृपा-पात्र कर अत्यंत उद्भट पंडित उन्हें बना दिया और पीछे से अपने पति के परास्त करनेवाले पंडितों को इनके द्वारा वाद में हराकर पूरा बदला चुका लिया।

पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनमें माता का वात्सल्य टपक रहा है। माँ का एक बार का प्रोत्साहन पुत्र के लिये जैसा उपकारी और उसके चित्त में असर पैदा करनेवाला होता है, वैसा पिता की सौ बार की नसीहत और ताड़ना भी नहीं

होती। सौतेली माँ 'सुरुचि' के वज्रपात सदृश वाक्प्रहार से दुः
और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यंत संतापित ध्रुव ने
जब वह केवल पाँच ही वर्ष के बालक थे, सुनीति देवी का हृदय
का सम्पादन ध्रुव-पद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान
और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं। पिता का सं
बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसीलि
पालता-पोसता और पढ़ाता-लिखाता है कि बुढ़ापे में वह हमारे
आवेगा तथा जब हम सब भाँति असहाय और अपंग हो जा
तो हमारी सेवा करेगा और हमारे खान-पान की फ़िकर रक्खे
पर माँ का उदार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की कभी
इच्छा रखता। माँ अपने प्रिय संतान के लिये कितना कष्ट सहती
जिसे याद कर चित्त में वात्सल्य-भाव का उद्गार हो आता है।
में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया
देह धरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की मड़
जब कि मुसलधार अखंड पानी बरस रहा है और फूस का ठाठ
ओर से ऐसा टपकता है कि कहीं बीता-भर जगह बची नहीं है
न ग़रीबी के कारण इतना कपड़ा-लत्ता पास है कि आप भी
और प्रिय संतान को ढाँपकर वृष्टि के भयंकर उत्पात से बचा
माता आधी धोती ओढ़े आधी से अपने दुधमुँहे बालक को ढाँपे
उसको छाती से लगाए हुए है। अपने प्राण और देह की उसे
तनिक भी चिंता नहीं है, किंतु वात और वृष्टि से पुत्र को कोई
अनिष्ट न हो, इसलिये वह अत्यंत व्यग्र हो रही है। पुत्र की रोगी
और अस्वस्थ दशा में पलँग के पास बैठ उदासीन मन मारे वह
उसका मुँह ताक रही है। रात की नींद और दिन का भोजन उसे
मुहाल हो गया है। भाँति-भाँति की मान-मनौती तथा उतारा
और सदक़े में वह लगी है। जो जैसा कहता है वह [illegible]

जाती है। अपनी जान तक क्यों न चली जाय, पर पुत्र को स्वस्थता हो, इसी की फ़िकर में वह है।

पिता को अपने शरीर पर इतना कष्ट उठाना कभी न भावेगा। यह माता ही है, जो पुत्र के स्वाभाविक स्नेह के परवश हो इतने-इतने दुःख सहती है। बुद्धिमानों ने इन्हीं सब बातों को सोच विचार कर लिख दिया कि—"पिता से माँ का गौरव सौगुना अधिक है।"

"पितुः शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।"

माँ का केवल गौरव मान बैठ रहना कैसा, हम तो कहेंगे कि पुत्र जन्मपर्यंत तन, मन, धन से माँ की सेवा करे तब भी वह उसके पूर्व-उपकार का ऋणी बना ही रहेगा। कवि-संप्रदायानुगत प्रसाद और माधुर्य-गुण से भरा तथा वात्सल्य-रस में पगा हुआ "माँ" इस एकाक्षरी महामंत्र की समस्त शब्दों की कल्पना करनेवाले आदि के उस महापुरुष ने, जिसने सृष्टि के प्रारंभ ही में हमें यह बतलाया कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध होता है, जान-बूझ कर किसी दूसरे शब्द में नहीं रक्खा। "प्रसवितृ", "मातृ", "जननि", "अंब" आदि जितने शब्द इस अर्थ के बोधक हैं, उनमें सरस, दंत्य और तालव्य अक्षरों के सिवा टकार, डकार, षकार आदि कड़े और कर्ण-कटु वर्ण किसी में न पाइएगा। इससे निश्चय होता है कि शब्द की कल्पना करनेवाले उन पहले के वैयाकरणों को प्यारी माँ का कहाँ तक गौरव था। भाई-बहन में परस्पर स्नेह का बंधन और बहुधा समान शील का होना माँ के उसी दूध का परिणाम है। एक ही माँ का दूध वे पीते हैं, इसीलिये वे इतना प्रेमबद्ध रहते हैं। सो सिद्ध हुआ, जननी केवल जन्म-दात्री ही नहीं है, वरन् पवित्र और सरस स्नेह की प्रसवित्री भी वही है। रस-लीला में गोपिकाओं ने भगवान् से तीन प्रश्न किए हैं, जिनमें उन्होंने तीन तरह का मार्ग प्रेम का दिखलाया है। एक तो वे लोग हैं, जो

प्रेम करने पर प्रेम करते हैं। दूसरे वे हैं, जो तुम चाहे प्रेम करो या न करो, तुम से प्रेम करते हैं। तीसरे वे, जो ऐसे कट्टर हैं कि उनसे कितना ही प्रेम करो, तो भी नहीं पसीजते। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है—जो परस्पर प्रेम करते हैं, वह तो एक प्रकार का बदला है; स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे; काम पड़ने पर मित्र शत्रु बना ही करते हैं, उसमें सौहार्द धर्ममूलक नहीं है; किंतु दोनों परस्पर स्वार्थी हैं, और जब स्वार्थ हुआ, तो कुछ-न-कुछ कपट उसमें अवश्य ही रहेगा, कपट का मन में लेश भी आया कि स्वच्छ स्नेह की जड़ कट गई। जिसमें केवल धर्म हो, जो स्वच्छ स्नेह को दर्पण के समान प्रकाश कर देनेवाला हो तथा जिसमें बदला पाने की कहीं गंध भी न हो, वह स्नेह वही है, जो दया की मानो साक्षात् स्वरूप माँ पुत्र में रखती हैं। इस मातृक स्नेहरूपी अनमोल मोती की तारीफ़ में पेज-का-पेज रँगते जाँय, तो भी हम ओरछोर तक नहीं पहुँच सकते।

१३—मुग्ध-माधुरी

मुग्धता की छवि ही कुछ निराली है। मुग्धता में चेहरे के भोलेपन के साथ-ही-साथ एक अद्भुत पवित्र, स्थिर और सत् मनोवृत्ति प्रतिबिंबित होती है। जिस सौंदर्य में भोलेपन की झलक नहीं, वह बनावटी सौंदर्य है। बनावटी सौंदर्य में सागर के समान प्रसन्न, गंभीर और स्थिर भाव कभी ढूँढ़ने से भी न मिलेगा। भोलेपन से खाली तथा दगीली खूबसूरती पहले तो कोई खूबसूरती ही नहीं है, और कदाचित् हो भी, तो कुटिलाई और बाँकापन लिए हाव-भाव दूषित, मलिन और अपवित्र मन की खोटाई के साथ ऊपर से रँगी-चँगी, सुंदरता छूत के समान देखनेवालों के मन में अवश्य अपवित्र और दूषित भाव पैदा करेगी। स्वाभाविक सरल सौंदर्य वही है, जिसमें भोलापन मिला हो और जो देखनेवालों के चित्त में अपवित्र और दूषित भाव पैदा करने के बदले प्रकृति के अद्भुत लोकोत्तर कामों का स्मरण दिलाता हुआ भक्ति-प्रवण मन-मधुप को सर्वशक्तिमान के चरणकमलों के ध्यान में रुजू करता है। बहुतेरे ऐसे दृष्टांत मिलते हैं कि हिंसक ठग लोग भी ऐसों के सौंदर्य पर मोहित तथा उनकी मुग्ध-माधुरी के वशीभूत हो हिंसा के काम से निरस्त हो बैठे। हमारे "नूतन ब्रह्मचारी"* का क़िस्सा इसका एक उदाहरण है।

जैसा ब्राह्मण और ऋषियों के बालकों में पुश्त-दर-पुश्त की तपस्या से उत्पन्न ब्रह्मवर्चस् तथा क्षत्रकुल-प्रसूत राजर्षियों में क्षात्रतेज की

---

* भट्टजी की यह "नूतन ब्रह्मचारी" नाम की पुस्तक भी हमारे यहाँ से मिलती है, जो बहुत ही दिलचस्प व पढ़ने योग्य है।—प्रकाशक

दमक निराली होती है और छिपाए नहीं छिपती उसी तरह रूप के भंडार में गुप्त-माधुरी भी छिपाए नहीं छिपती। नागरिक स्त्रियों की अपेक्षा मनरंजिता गँवारिन गोपियों में कौन-सी ऐसी बात थी कि हमारे कविगण रूप-वर्णन में अपनी कविता का सर्वस्व उनकी रूप-माधुरी को सौंप बैठे। कोकिलकंठ जयदेव, कवि कर्णपूर तथा और-और लीलाशुक प्रभृति कवियों की कोमल कविता का उद्गार इन्हीं व्रजवनिताओं ही के रूप-वर्णन में क्यों हुआ? इसका कारण यही मन में आता है कि इन लोगों को नगरवधू तथा प्रसिद्ध राज-कन्याओं के रूप में यह बात न मिली। यह केवल बेबनावटी भोलापन था, जिससे कृष्ण-ऐसे रसिकशिरोमणि इन पर मोहित हो इनके पीछे-पीछे डोलते फिरे। हजार में नौ सौ निन्नानवे लोग तेल और पानी मिली हुई हल्दी की पालिश से चमकाए गए, बार-वनिताओं के जिस सौंदर्य तथा रूप को देखकर कीट-पतंग की भाँति झुलसते हैं, वह सौंदर्य तथा रूप के जौहर के सच्चे जौहरियों की दृष्टि में अत्यंत तुच्छ और हेय है। परन् संयोगवश कभी उनकी नज़र भी ऐसे सुंदरता पर पड़ जाती है, तो उन्हें घिन पैदा होती है। यह स्वाभाविक बेबनावटी सौंदर्य ग्राम में ही पाया जाता है। यह सुकुमार पौधा नगर की दूषित वायु के लगने से मुरझा जाता है। राजर्षि दुष्यंत के राज-भवन में कितनी राजमहिषियों के होते हुए भी वल्कल और छाल से तन ढाँपे हुए आश्रम-नारी शकुंतला ही उनको सोहावनी हुई—

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी"

यह एक अद्भुत बात है कि जितने शुद्ध पदार्थ हैं, वे बाहरी देखनेवालों को रिझानेवाले गुणों में उनसे कम मालूम होते हैं, जिनमें मिलावट है। शुद्ध सोना उतना न चमकेगा, जितना मिलाया हुआ। अपने बनावटी रूप का अभिमान करनेवालों का अभिमान क्षणिक होता है। जैसा हल्दी का रँगा वस्त्र बड़ा चटकीला होता है, परंतु धाम

है ढलते ही सब प्रकार उसकी एक दिन में बिदा जाती है। लावण्य का अन्वित कराने में स्वाभाविक सौंदर्य सार-पदार्थ है। इसी स्वाभाविक सौंदर्य को हम मुग्ध-माधुरी कहते हैं। रूप की इस मुग्ध-माधुरी का कुछ ऐसा ही नियम है कि जो मुखच्छवि रेख भीनते-भीनते पूनों के चाँद-सी सोहती थी, वही जवानी के आते ही मोछों की कालिमा से कलुषित हो सेवार के जाल में ढँपे हुए कमल की शोभा धर लेती है। अस्तु, इस बिगड़ी दशा में भी यह छवि बहुत दिनों तक नहीं रहती। धुओं से जैसा चित्र, हिमसंहति से जैसा कमल, अँधियारे पाख से जैसा चंद्रमा ढँक जाता है, उसी तरह बुढ़ापे में यह छवि भी श्रीहीन हो जाती है। भवभूति महाकवि ने इस मुग्ध-माधुरी का कई जगह बहुत उत्तम चित्र अपने उत्तर-राम-चरित्र में खींचा है। यथा—

"प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
र्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्,
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृतमधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः।
अलसलुलितमुग्धान्यध्वसंजातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि;
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

कविकुलमुकुट कालिदास ने भी पार्वती के कोमल अंगों के वर्णन में कहा है—

असंभृत मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्य करण मदस्य;
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्र बाल्यात्पर साथ वय. प्रपेदे।
उन्मीलित तूलिकयेव चित्र सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्;
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्त नवयौवनेन।

बिहारी ने भी लिखा है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग;
दीपति-देह दुहून मिल, दिपति ताफ़ता रंग।
तिय तिथि तरनि किशोर वय, पुन्य काल सम दोनु;
काहू पुन्यानि पाइयत, बैस-साधि संक्रोनु।
चितवनि भोरे भाव की, गोरे मुंह मुसकानि;
लगनि लटकि आली गरै, चित खटकत नित आनि।

१४—चरित्र-पालन

चरित्र में कहीं पर किसी तरह का दाग़ न लगने पावे, इस बात की चौकसी का नाम चरित्र-पालन है। हमारे लिये चरित्र-पालन की आवश्यकता इसलिये मालूम होती है कि चरित्र को यदि हम सुधारने की फ़िकर न रक्खें, तो उसे बिगड़ते देर नहीं लगती, जैसे उर्वरा फलवंत धरती में लंबी-लंबी घास और कटीले पेड़ आप-से-आप उग आते हैं और अन्न आदि के उपकारी पौधे बड़े यत्न व परिश्रम के उपरांत उगते हैं। सच तो यों है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ने चरित्र में विकार पैदा कर देनेवाले इतने तरह के प्रलोभन संसार में उपजा दिए हैं, जिनसे आकर्षित हो मनुष्य बात-की-बात में ऐसा बिगड़ जा सकता है कि फिर यावज्जीवन किसी काम का नहीं रहता। महल के बनाने में कितना यत्न और परिश्रम करना पड़ता है; पर जब वह बनकर तैयार हो जाता है, तो उसे ढहाते देर नहीं लगती। इसी बात पर लक्ष्य कर कवि-शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात्—जो बातें विकार पैदा करनेवाली हैं, उनके होते हुए भी जिनके मन में विकार न पैदा हो, वे ही धीर हैं। महाकवि भारवि ने भी ऐसा ही कहा है—

"विक्रिया न खलु कालदोषजा
निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया।"

अर्थात्—निर्मल प्रकृतिवालों में काल की कुटिलता के कारण जो

विकार पैदा होते हैं, वे चिरस्थायी नहीं रहते। चरित्र-रक्षा एक प्रकार की गोरखी जमीन है, जिस पर यश-सौरभ पुष्प के समान बनाए जा सकते हैं, अर्थात् जैसे सोंधी मिट्टी का पुट देकर हर किस्म का एक बगीचे को तैयार करता है, वैसे ही चरित्र जब आदमी का दृढ़ है, तो वह हर तरह की योग्यता प्राप्त कर सकता है। दृढ़ चरित्रवाला मनुष्य सब जगह प्रतिष्ठा पाता है, और वह जिस काम में लगा होता है, उसी में पूर्ण योग्यता को पहुँच कर हर तरह सफल होता है।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ,
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ।

अर्थात्—जैसे मैला कपड़ा पहने हुआ मनुष्य जहाँ चाहता है, वहाँ बैठ जाता है, कपड़ों में दाग लग जाने का ख़याल उस आदमी को बिलकुल नहीं रहता, उसी तरह चलितवृत्त अर्थात् जिसके चाल-चलन में दाग लग गया है, वह फिर बाकी अपने और चरित्रों को भी नहीं बचा सकता, वरन् वह नित्य-नित्य बिगड़ता जाता है। मन, जिह्वा और हाथ का निग्रह चरित्र-पालन का मुख्य अंग है। जिन्होंने मन को कुपथ पर जाने से रोका है, जीभ को दूसरे की चुगली-चबाई से या गाली देने से रोका है, और हाथ को दूसरे की वस्तु चुराने से या बेईमानी से ले लेने में रोक रक्खा है, वही चरित्र-पालन में उदाहरण दूसरों के लिये हो सकता है। ऐसा मनुष्य कसौटी में कसे जाने पर खरे-से-खरा निकलेगा।

वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्तस्य मरणं
वरं सर्पाकीर्णे तृणपिहितकूपे निपतनम्;
वरं गर्तावर्ते गहनजलमध्ये विलयनं
न शीलाद्भ्रष्टो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः।

सच है, कुलीन समझदार सादर के लिये चरित्र में दाग लगना ऐसी ही कड़ी बात है कि उसे अपना जीवन भी बोझ मालूम होने

रसूल या पैग़म्बर हुए हैं और खास तथा सिद्ध माने गए हैं। उनके एक-एक शब्द जो मुख से निकलते हैं तथा उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना अलग-अलग चरित्र-पालन में उदाहरण होता है। जो प्रतिष्ठा बड़े से-बड़े राजाधिराज सम्राट्, बादशाह, शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है, और यह प्रतिष्ठा चरित्र-पालनवाले को सहज ही मिल गई हो, सो नहीं, वरन् सच कहिए तो यह असिधारा-व्रत है; संसार के अनेक सुखों को लात मार बड़े-बड़े क्लेश उठाने के उपरांत मनुष्य इसमें पक्का हो सकता है।

चरित्र से बहुत मिलती हुई दूसरी बात शील है। शील का चरित्र ही में अंतर्भाव हो सकता है। चरित्र-पालन में चतुर शील-संरक्षण में भी प्रवीण हो सकेगा; किंतु शील-संरक्षण में विचक्षण मनुष्य चरित्र-पालन में प्रवीण नहीं हो सकता। अँगरेज़ी में शील के

लिये "कांडक्ट" (Conduct) और चरित्र के लिये "कैरेक्टर" (Character) शब्द है। आदमी की बाहरी चाल-चलन का दुरुस्त होना या "कांडक्ट" अथवा "बिहेवियर" (Behaviour) कहा जायगा; किंतु मनुष्य का आभ्यंतर शुद्ध जब तक न होगा, तब तक बाहरी सभ्यता 'चरित्र' नहीं कहलावेगी। श्रीरामचंद्र, युधिष्ठिर, बुद्धदेव तथा महात्मा ईसा के चरित्र-पालन का समाज पर वैसा ही असर होता है, जैसा रक्त-संचालन का शरीर पर। सुनिश्च पुष्ट भोजन से जो रुधिर पैदा होता है, वह शरीर को पुष्ट और नीरोग रखता है, वैसा ही जिस समाज में चरित्र-पालन की क़दर है और लोगों को इसका ख़याल है कि हमारा चरित्र दुःशीला न होने पावे, वह समाज पुष्ट पड़ती जाती है और उत्तरोत्तर उसकी उन्नति होती जाती है। जिस समाज में चरित्र-पालन पर किसी की दृष्टि नहीं है और न किसी को "चरित्र किस तरह पर बनता व बिगड़ता है" इसका कुछ ख़याल है, उस बिगड़ी समाज का भला क्या कहना! कुपथ्य भोजन से विकृत रुधिर पैदा होकर जैसा शरीर को व्याधि का आलय बना नित्य उसे क्षीण, और जर्जर करता जाता है, वैसा ही लोगों के कुचरित्र होने से समाज नित्य क्षीण, निःसत्त्व और जर्जर होती जाती है। जिस समाज में चरित्र की बहुतायत होगी, वह समाज सर्वोपरि दीप्यमान होकर देश और जाति की उन्नति का द्वार होगा। हमारी प्राचीन आर्यजाति चरित्र की खान थी, जिनके नाम से इस समय हिंदू-मात्र पृथ्वी-भर में विख्यात हैं। अफ़सोस! जो क़ौम किसी समय दुनिया के सब लोगों के लिये चरित्र-शिक्षा में नमूना थी, वह आज दिन यहाँ तक गई-बीती हो गई कि दूसरे से सभ्यता और चरित्र-पालन की शिक्षा लेने में अपना सद्भाग्य समझती है! समय खेलाड़ी ने हमें अपना खिलौना बनाकर जैसा चाहा, वैसा खेल खेला। देखें, आगे अब वह कौन खेल खेलता है।

१५—चारु चरित्र

मनुष्य के जीवन का महत्त्व जैसा चारु चरित्र से संपादित होता वैसा धन, ऊँचे पद, ऊँचे दरजे की तालीम इत्यादि के द्वारा नहीं सकता। समाज में जैसा गौरव, जैसी प्रतिष्ठा या इज्ज़त, जैसा र लोगों के बीच में शुद्ध चरित्रवाले का होता है, वैसा बड़े-से-बड़े नी और ऊँचे-से-ऊँचे ओहदेवाले का कहाँ? धनवान् या विद्वान् को । प्रतिष्ठा दी जाती है, या सर्वसाधारण में जो यश या नामवरी सकी होती है, उसकी स्पर्द्धा सबको होती है। कौन ऐसा होगा, जो पने वैभव, अपनी विद्या या योग्यता से औरों को अपने नीचे रखने ी इच्छा न करता हो? शांति का एक-मात्र आधार केवल चारु रि, रखे में अलबत्ता यह नहीं देखा जाता। वह यह कभी नहीं गहना कि चरित्र के पैमाने में, अर्थात् चरित्र क्या है, इसकी नाप-जोख ं, दूसरा हमारे आगे न बढ़ने पावे।

कार्य-कारण का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस सूत्र के अनुसार देश या जाति का एक-एक व्यक्ति संपूर्ण देश या जाति की सभ्यता-रूप कार्य का कारण है; अर्थात् जिस देश या जाति में एक-एक मनुष्य अलग अलग अपने चरित्र के सुधार में लगे रहते हैं, वह समग्र देश-का-देश उन्नति की अंतिम सीमा तक पहुँच सभ्यता का एक बहुत अच्छा नमूना बन जाता है। नीचे-से-नीचे कुल में पैदा हुआ हो, बहुत पढ़ा-लिखा भी न हो, बड़ा सुबीतेवाला भी न हो, न किसी तरह की कोई असा-धारण बात उसमें हो; किंतु चरित्र की कसौटी में यदि वह अच्छी तरह कस लिया गया है, तो उस आदरणीय मनुष्य का संभ्रम और आदर समाज में कौन ऐसा कंबख्त होगा, जो न करेगा; और

ईर्ष्यावश उसके महत्त्व को मुक्त-कंठ हो स्वीकार न करेगा! नीचे दरजे से ऊँचे को पहुँचने के लिये चरित्र की कसौटी से बढ़कर और कोई दूसरा ज़रिया नहीं है। चरित्रवान् यद्यपि धीरे-धीरे बहुत ही में ऊपर को उठता है, पर यह निश्चित है कि चरित्र-पालन में जो सा‍वधान है, वह एक-न-एक दिन अवश्य समाज का अगुआ मान लि‍या जायगा। हमारे यहाँ के गोत्रप्रवर्तक ऋषि, भिन्न-भिन्न मत संप्रदायों के चलानेवाले आचार्य, नबी, औलिया, औलिया आदि इसी क्रम पर आरूढ रह लाखों-करोड़ों मनुष्यों के 'गुरोर्गुरुः' देव माननीय-पूजनीय हुए, वरन् कितने उनमें से ईश्वर के अंश व अवतार माने गए।

यों तो दियानतदारी, सत्य पर अटल विश्वास, शांति, कपट व कुटिलाई का अभाव आदि चरित्र-पालन के अनेक अंग हैं, किंतु ईं याद इन सब उत्तम गुणों की, जिस पर मनुष्य में चारु चरित्र पवित्र विशाल मंदिर खड़ा हो सकता है, अपने सिद्धांतों का और उसूलों का पक्का होना है। जो जितना ही अपने सिद्धांतों दृढ़ और पक्का है, वह उतना ही चरित्र की पवित्रता में एकता होगा चरित्र की संपत्ति के लिये सिधाई तथा चित्त का अकुटिल भाव एक ऐसा बड़ा स्रोत है, जहाँ से विश्वास, अनुराग, दया, मृदु सहानुभूति के सरस प्रवाह की अनेक धाराएँ बहती हैं। इनमें से कि एक धारा में नियम-पूर्वक स्नान करनेवाला मनुष्य भलमनसाहत सभ्यता, आभिजात्य या कुलीनता तथा शिष्टता का नमूना बन जा है। क्योंकि चतुराई बिना चित्त की सिधाई के, ज्ञान या विद्या बिना विवेक या अनुष्ठान के, मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति अथवा योग्यता अवश्य है, पर यह योग्यता उसकी वैसे ही है जैसे गिरह काटनेवा में जेब या गाँठ काट रुपए निकाल लेने की योग्यता या चातुरी रहती है।

आत्मगौरव भी चरित्र का प्रधान अंग है। सुचरित्र-संपन्न नीचा काम करने में सदा संकुचित रहता है। प्रतिक्षण उसे इसके लिये बड़ी चौकसी रखनी पड़ती है कि कहीं ऐसा काम न बन पड़े कि प्रतिष्ठा में हानि हो। उसका एक-एक काम और एक-एक शब्द सभ्य समाज में नेकचलनी के सूत्र के समान प्रमाण में लिया जाता है। जिसके लिये उसने 'हाँ' कहा, फिर उसी के लिये उससे 'नहीं' कहलाना मनुष्य-मात्र की शक्ति के बाहर है। उत्कोच या किसी तरह का लालच दिखलाकर उसके उसूल को बदलवा देना या दृढ़ सिद्धांतों से उसे अलग करना वैसा ही है, जैसा प्रकृति के नियमों का बदलना। यह कुछ अत्यंत आवश्यक नहीं है कि जो बड़े धनी हैं या किसी बड़े ऊँचे ओहदे पर हैं, वे ही सच्ची शराफ़त या चोखी-से-चोखी सज्जनता अथवा नेकचलनी (Standard) के सूत्र हों। यद्यपि ग़रीब तथा छोटा आदमी भी सज्जनता की कसौटी में अधिकतर चोखा और खरा निकल सकता है। किसी ने अच्छा कहा है—

"अर्थक्षीणो वित्ततः क्षीणः वृत्ततस्तु हतो हतः।"

अर्थात्—धन पास न होने से ग़रीब ग़रीब नहीं है, वरन् जो सद्वृत्त नेकचलनी से रहित है, वही ग़रीब है। धनी सब कुछ अपने पास रखकर भी सब भाँति हीन है; पर निर्धनी पास कुछ न रखकर भी यदि सद्वृत्त है, तो सब भाँति भरा-पुरा है। उसे भय और नैराश्य कहीं से नहीं है। यही सद्वृत्त-विहीन वित्तवान् को पग-पग में भय है। उसका भविष्य इतना धुँधला है कि जिसका धुँधलापन दूर होने की कहीं से आशा की चमक का नाम नहीं है। दैववश जिसका सब कुछ नष्ट हो गया, पर धैर्य, चित्त की प्रसन्नता, आशा, धर्म पर दृढ़ता, आत्मगौरव और सत्य पर अटल विश्वास बना है, उसका मानो सब बना है। कहीं पर किसी अंश में वह दरिद्र नहीं कहा जा सकता।

एक बुद्धिमान् ने इन बातों को पवित्र चरित्र का मुख्य अंग निश्चय किया है—सरलता अर्थात् छल-कपट का न होना, रुपये-पैसे के लेन देन में सच्चाई, बात का धनी और अपने वादे का सच्चा होना, आश्रितों पर दया, मेहनत से न हटना, अपने मित्र परिवार और पौरुष पर भरोसा रखना, अविकत्थन अर्थात् अपने को बड़ा न कहना—इनमें से एक-एक गुण ऐसे हैं, जिन पर किताब-की-किताब लिखी जा सकती है। चाहे चरित्र का एक संक्षेप विवरण हमने कह सुनाया। जिस भाग्यवान् में चरित्र के पूर्ण अंग हैं, उसका क्या कहना! वह तो मनुष्य के तन में साक्षात् देवता या जीवन्मुक्त कोई योगी है। जिन बातों से हमारे में चरित्र आता है, उसकी दो-एक बात भी जिसमें है, वह धन्य और प्रशंसा के योग्य है। हमारे नवयुवकों को चरित्र-पालन में विशेष प्रवृत्तचित्त होना चाहिए। ऊँचे दर्जे की शिक्षा बिना चरित्र के सर्वथा निरर्थक है। चरित्र-संपन्न साधारण शिक्षा रखकर जितना उपकार देश या जाति का कर सकता है, उतना सुशिक्षित पर चरित्र का छूछा नहीं करेगा।

१६—आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि उसके न होने से पुरुष में पौरुषत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तैंबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है—

"लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।"

अर्थात्—तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहुबल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यह बाहुबल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है। योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन-उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में [illegible]

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आल
हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारे।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी
सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहा
करने की वासना आदमी में सच्ची तरक़्क़ी की बुनियाद है।
सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनी इसका उदाहरण तो है ही, बल्
देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और मह
(National vigour and strength) के आने का मा
निर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी का
करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जि
आत्मनिर्भरता। समाज के बंधन में भी देखिए, तो बहुत सारे
संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसा नहीं हो सकते, जैसा
समाज के एक-एक मनुष्य का अलग-अलग अपना संशोधन अपने
आप करने से हो सकते हैं। कड़े-से-कड़ा क़ानून आलसी समा
को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूल ख़र्च को किफ़ायतशार या परि
व्ययशील, शराबी को परहेज़गार, क्रोधी को शांत या सहनशील
सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध
नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भि
को आढ्य, भीरु डरपोक को वीर धुरीण, झूठे गपोड़िए को स
चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधर इत्यादि
नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्
से अपने में ला सकते हैं। सच पूछो, तो जाति या क़ौम भी सुध
हुए ऐसे एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति के एक-एक
आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुध तो जाति-की-जाति
समाज-की-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या ? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य सदाचार, दृढ़, बलिष्ठ क्योंकि सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। क़ौमी तरक़्क़ी भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह क़ौम की तनज़्ज़ुली क़ौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का मीज़ान टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसा सिक्खों में धीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरा-पन। जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट क़ानून के द्वारा रोक दे या जड़-पेड़ से नेस्तनाबूद कर दे, परंतु वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ सिर से उभड़ आयेंगे, वरन् पहले से ज़्यादा तरोताज़गी और सरसब्ज़ी की हालत में हो जायेंगे। जब तक किसी जाति के हरएक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दर्जे का देशानुराग और सर्वसाधारण के हित की चेष्टा सिर्फ़ क़ानून के अदल-बदलपन से या नए क़ानून जारी करने से नहीं पैदा हो सकती। ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में भी रहकर कोई क़ौम ग़ुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् ग़ुलाम वही क़ौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी क़ौम, जिसकी नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक़्क़ी नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मज़बूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है। ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की तालीम बिलकुल बेफ़ायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि—

ाजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा
सर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में
पने सुधार की प्रबल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है।"

पुराने लोगों से जो चूक और ग़लती बन पड़ी है, उसीका नतीजा
वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम
से पुकारिए—यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एक नहीं है,
आपस की हमदर्दी नहीं है इत्यादि। सब पुराने क्रम को अच्छा
मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योंकर अपने लिये
उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूख़ाने की गप
समझते हैं कि—"हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता, हम
विदेशी राज से शासित हैं, इसी से हम तरक़्क़ी नहीं कर सकते
वास्तव में सच पूछो, तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने
आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान
दुर्गति उसी का परिणाम है, बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता
है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं, वरन् काम से होती है।
प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध
पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करने से मनुष्य
पूर्णता आती है। योरप की सभ्यता, जो आजकल हमारे लि
प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक
या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पुश्त
देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख़याल और ऊँची वासनाओं की
प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हरएक
फ़िरक़े, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँधके बराबर
अपनी-अपनी तरक़्क़ी में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दरजे के मनुष्य-
किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दरजेवाले—
दार्शनिक, राजनीतिज्ञ (Politician)—सबोंने [illegible]

शाखों को इस दर्जे तक पहुँचाया है। एक ने एक कल को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर परि-श्रम कर एक दरजा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उद्योग का फल जिसका केवल ढाँचा-मात्र खड़ा था, पूर्णता और सिद्ध अवस्था तक पहुँच गई। ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे, और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्वपुरुष अपनी आशाएँ भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी जागीर या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए।

आत्मनिर्भरता या "अपने आप अपनी सहायता" के संबंध में जो शिक्षा हमें मेमिंदर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुक़ाबले में स्कूल और कॉलेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तक या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र आत्मदमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर है, और हमें जन्म ले क्या करना चाहिए, इसका सारांश है।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथ के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश ज़रूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति विशेष या ख़ास दरजे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे ग़रीब-से-ग़रीब या छोटे-से-छोटे दरजे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है। हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन-भर के लिये मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस

कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों
ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुषसिंह-जैसा एक पुत्र अच्छा,
गीदड़ों की ख़सियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के ! पुत्र-जन्म में
लोग बड़ी ख़ुशी मनाते हैं, शहनाई बजवाते हैं, फूले नहीं समाते।
हमें पछतावा और दुःख होता है कि जहाँ तीस करोड़ गीदड़ थे, वहाँ
एक की गिनती और बढ़ी; क्योंकि हिंदुस्तान की हमारी पिसी गिरी
क़ौम में सिंह का जन्मना सर्वथा असंभव-सा प्रतीत होता है, क्
न हम लोगों के ऐसे पुण्य के काम हैं कि हमारे बीच सब सिंह-ही
सिंह जन्म लें। तब हमारी इतनी अधिक बढ़ती जैसी बाल्य-विवा
की कृपा से हो रही है, किस काम की ! सिवा इसके कि हिंदुस्त
की पृथ्वी का बोझ बढ़ता जाय।

समाज में ऐसे-ऐसे कुसंस्कार और निंदित रीतियाँ चल
हैं कि आत्मनिर्भरता पास तक नहीं फटकने पाती। बहुत
के समाज-बंधन तथा खान-पान आदि की क़ैद, जो हमारे पीछे
दी गई है, उन सबका यही तो परिणाम हुआ कि आज़ादी,
पर आत्मनिर्भरता या किसी दूसरे पौरुषेय गुण की लंबी-चौड़ी
रत खड़ी हो सकती है, शुरू ही से नहीं आने पाती। जब कि योरप
के भिन्न-भिन्न देशों में माँ-बाप अपने लड़कों को तालीम देने के
साथ-ही-साथ अपने भरोसे पर ज़िंदगी की किश्ती को किस तरह पर
खे ले जाना चाहिए, यह लड़कपन से सिखाते हैं, तब यहाँ दुधमुहे
बालक-बालिकाओं का ब्याह कर स्वयं अपने भरण-पोषण तथा अन्य
समस्त पौरुषेय गुण की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने का प्रयत्न किया जाता
है। योरप के देशों में पिता पुत्र को शक्ति-भर उत्तम-से-उत्तम शिक्षा
दे उसे जीवन-संग्राम के लिये तैयार कर देता है, जिसमें वह अपने
आप निर्वाह कर सके। वहाँ के माँ-बाप हम लोगों के माँ-बाप की
तरह अपने पुत्र के मि—— अग्र नहीं हैं कि बिना सोचे-समझे

पन से छाती का पाट गले में बाँध उस बेचारे को सब तरह पर हीन, दीन और लाचार कर डालें और आप भी चिता पर पहुँचने तक लड़कों की फ़िक्र से मुचित्त न रहें। इतिहास से पूरा पता लगता है कि जब से यहाँ ब्रह्मचर्य की प्रथा उठा दी गई और दुधमुहों का ब्याह जारी कर दिया गया, तब से आज तक बराबर हमारी घटती ही होती जाती है। हम तो यही कहेंगे कि जैसा पाप हमसे बन पड़ता है, उसके मुक़ाबले में हमें कुछ भी दंड नहीं मिलता। दस या बारह वर्ष की कन्याओं के विवाह-रूपी महापाप की इतनी सज़ा मिली, तो कुछ न हुआ। अस्तु, हमारे में आत्मनिर्भरता न होने का बाल्य-विवाह एक बहुत बड़ा प्रधान कारण है। इसी का यह फल है कि हम नया कुआँ खोद नया स्वच्छ पानी पीना जानते ही नहीं।

हमारे देश की कुल आबादी के दस हिस्से में से आठ हिस्सा ऐसा है, जो केवल बाप-दादों की कमाई या परंपरा-प्राप्त जीविका अथवा वृत्ति से निर्वाह करता है। सौ में एक ऐसे मिलेंगे, जो अपने निज बाहुबल और पुरुषार्थ के भरोसे हैं; सो भी उनके सब पुरुषार्थ, करतूत या सपूती का निचोड़ केवल इतना ही है, जैसा किसी कवि ने कहा है—

"अन्नपानजिता दारा सफलं तस्य जीवनम्।"

अर्थात्—सफल जीवन उसी का है, जिसने अन्न-अम्बु से अपने लड़के और स्त्री को प्रसन्न कर रक्खा है। इतना जिसने किया, वह पक्का सपूत और पुरुषार्थी है।

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेज़ी राज्य के अमन-चैन का फ़ायदा पा हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके, वरन् दस बरस की ...ों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि बढ़ाना करने लगे। ...त की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए और इसके घटने का

सुनाम अथवा केवल बाल्य-विवाह का रूक जाना है। गवर्नमेंट को
चाहिए कि वह बाल्य विवाह को जुर्म में दाखिल कर पूरे मिन पा
जाने के पहले जो अपने कन्या या पुत्र का विवाह करे, उसके लिये
कोई भारी सज़ा या जुर्माना कायम कर दे। तब कदाचित् यह बुराई
हम लोगों में से दूर हो, नहीं तो सीधी तरह से ये कभी राह पर नहीं
आनेवाले हैं। आत्मनिर्भरता में दृढ़, अपने कूवते-बाज़ू पर भरोसा
रखनेवाला, पुष्ट-वीर्य, पुष्ट बल, भाग्यवान् एक संतान अच्छी, कूड़ा
सूअर-से निकाले, रग-रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी
किस काम के !

"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।"

आदमी के लिये आज़ादी एक बेश-क़ीमत मोती है। यह आज़ा
तब ही हासिल हो सकती है, जब हम अनेक तरह की फ़िक्र
चिंता से निर्द्वंद्व हों और हमारी तबियत में आत्मनिर्भरता ने द
कर लिया हो। इस दशा में बड़ी-से-बड़ी चिंता और फ़िक्र
इतनी असह्य न मालूम होगी कि वह हमारी स्वच्छंदता को उ
उखाड़ सके। किसी वस्तु का जब बीज बना रहता है, तो उसके
बढ़ा लेना सहज है। आत्मनिर्भरता की योग्यता संपादन कि
ही हम लोगों के माँ-बाप लड़कपन में अपने लड़कों क
कर यावज्जीवन के लिये उनकी स्वच्छंदता का बीज नष्ट कर देत
उपरांत उनका शेष जीवन बोझ और अपाद हो जाता है। इँगलैंड और
अमेरिका, जो इस समय उन्नति के शिखर पर चढ़े हैं, सो इसीलि
कि वहाँ गृहस्थी करना हरएक आदमी की इच्छा पर निर्भर है
वहाँ माँ-बाप को कोई अधिकार नहीं रहता कि निरे नाबालिग
ब्याह कर दें। यही सबब है कि उन-उन देशों में प्रायः सब
बड़प्पन का दावा कर सकते हैं। हमारे यहाँ भी शंकर, नानक, क
कृष्ण, चैतन्य, बुद्धदेव, तथा हाल में स्वामी दयानंद, जिनका

पन हम लोग मुक्तकंठ हो स्वीकार करते हैं और जिनका नाम लेते
चित्त गद्गद हो जाता है, सब-के-सब गृहस्थी के बोझ से स्वच्छंद
थे। आत्मनिर्भरता इन महापुरुषों में पूरा प्रभाव रखती थी। किसी
का मत है—मुल्क की तरक़्क़ी औरतों की तालीम से होगी; कोई
हता है—विधवा-विवाह जारी होने से भलाई है, कोई कहता है—
ाने-पीने की क़ैद उठा दी जाय, तो हिंदू लोग स्वर्ग पहुँच इंद्र का
ासन छीन लें; कोई कहता है—विलायत जाने से तरक़्क़ी होगी;
ोई कहता है—फ़िज़ूल-ख़र्ची कम कर दी जाय, तो मुल्क अभी
रक़्क़ी की सीढ़ी पर लपकके चढ़ जाय। हम कहते हैं—इन सब
ातों से कुछ न होगा, जब तक बाल्य-विवाहरूपी कोढ़ हमारा
ाफ़ न होगा। हम जानते हैं, हमारा यह रोना-कलपना केवल
अरण्यरोदन-मात्र है; फिर भी गला फाड़-फाड़ चिल्लाते रहेंगे, कदा-
चित् किसी की तबियत पर कुछ असर पैदा हो जाय और आत्म-
निर्भरता-ऐसे श्रेष्ठ गुण को हम लोगों के बीच भी प्रकट होने का
अवसर मिले।

१७—चंद्रोदय

अँधेरा पास आता, उँजेला पास आया। पश्चिम की ओर सूर्य
दूबा, और वक्राकार हँसिया की तरह चंद्रमा उसी दिशा में दिखाई
पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से
दुखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य
भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम
ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा
ने सूर्य का काम तमाम किया, जिससे रक्त यह निकला! अपन
सूर्य भी क्रुद्ध हुआ, जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उ
की यह रक्त आभा है? इस्लाम-धर्म के माननेवाले नए चंद्र
बहुत बड़ी इज्ज़त करते हैं, सो क्यों? मालूम होता है, इस
कि दिन-दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चंद्रमा मानो
सबक़ देता है कि रमज़ान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि
वह नष्ट हो जाय, तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है।
अथवा यह कामरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महा-
मंत्र है; या अंधकार महागज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों
के प्राण कतरने की क़ैंची है; अथवा शृंगार-रस से पूर्ण पिटारे
खोलने की कुंजी है; या तारा-मौक्तिकों से गुथे हार के बीच का
सुमेरु है; अथवा जंगम जगत्-मात्र को डसनेवाले अनंग-भुजंग
फन पर का यह चमकता हुआ मणि है; या निशा-नायिका के चेह
मुसकिराहट है; या संध्या-नारी के काम-केलि के समय उसकी
[illegible] नख-क्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा
[illegible] से एक सीपी है।

यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है, जिसमें बीच-बीच जो कलंक की कालिमा है, सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं। अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है; या आकाश-गंगा के तट पर विहार करनेवाला हंस है, जो सोती हुई कुमुदों के जगाने को दूत बनकर आया है, या देव-नदी आकाश-गंगा का पुंडरीक है, या चाँदनी का अमृत-कुंड है, अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं, वे सब गौएँ हैं, उनके झुंड में यह सफ़ेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व-दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये सान धरने का सफ़ेद गोल पत्थर है, या संध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय के पहले

१८—भालपट्ट

कवि लोग लिलार की उपमा पट्टे से देते हैं। सच पूछो, तो विधना को अपने अमिट अक्षरों के लिखने के लिये यह भाल ही एक मात्र स्लेट मिली है, जिस पर बालिश मरा लड़कों की भाँति आज तक टाँ-पट्टी लिखने का अभ्यास नहीं छोड़ता और जन्मघुए की छुट्टी के दिन नए-नए भालपट्ट पाकर फिर-फिर बाल-क्रीड़ा का अनुभव किया करता है। बालक तो लिखकर मिटा सकते हैं, पर यह लेख ऐसा अमिट है कि कोई कितनी ही चेष्टा करे, कभी मिट नहीं सकता—

"करम-रेख ना मिटे, करे कोई लाखों चतुराई।"

चतुरानन की चतुराई का चमत्कार कुछ लिलार ही के संबंध देखा जाता है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, गुणवान्, कृत-विद्य भी भाग्यवान् के सामने हाथ पसारकर दीन बनते हैं। इसी बात पर कु किसी कवि ने कहा है—

"भाग्यवन्तं प्रसूयेथाः मा शूरान् मा च पण्डितान्"

धन्य हैं वे भाग्यवान् पुरुष, जिनको हरएक के सामने माथा नवाना पड़ता, तथा हाथ नहीं पसारना पड़ता। मूर्ख नासमझ को समझाकर राह पर लाने को हज़ार-हज़ार माथा पटको, कुछ नहीं होता—

"मूरख को समझाइबो ज्ञान गाँठ को जाय।"

"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।"

घर में चोरी हो गई, चोर सेंध देकर सब माल-मता ढो ले ग इधर दौड़े, उधर दौड़े, पुलिस आए, सौ-सौ तदबीरें कीं, कुछ ... से माथा ठोक बैठ रहे। यह भालपट्ट मानो भौंह के ऊ

किसी ने पाया है ! अनुमान करते-करते हैरान गौतम-से मुनि "गोतम" हो गए। कणाद तिनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे ; पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते-करते "कपिल" अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे; यह संपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना-ही-कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण-भंगुर है, अतएव हेय है। उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने उद्देश्य का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पनाजन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अंतर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित के प्रवर्तक उक्लैदिस (यूक्लिड) ज्यामिति की हरएक शकल में बिंदु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार-मति इन द्विजों के छात्रों का दिमाग़ ही चाट गए। कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे ग़ारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्तव्यता (Practice) में परिणत होते देख यहाँवालों को हाथ मल-मल पछताना और 'कलपना' पड़ा।

प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेंच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी झूँठी-मूँठी कल्पना कर आपका थोड़ा-सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।

१६—कल्पना-शक्ति

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अंतःकरण में प्रारंभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना-शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूलभुलैया में चक्कर मारता, टकराता, अंत को इसी सिद्धांत पर आकर ठहरता है कि यह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि जगत्स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पांत फ़राग़त हो गए; पर कवि-जन नित्य नई-नई रचना के गढ़ंत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करनेवाले के हृद्गत भाव या मन के परखने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृतिवाले से शृंगार-रस-प्रधान कल्पना कभी न बन पड़ेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृंगार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिये दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविंद ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम-रावण या कर्णार्जुन के युद्ध का वर्णन कभी उनसे न बन पड़ता। यावत् मिथ्या और दरोग़ की क्रिबलेगाह इस कल्पना-पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर

सोता होता है; पर फूल के विशेष स्वरूप को ज़रा भी उससे हेत नहीं होता। ध्यान पर रखना नहीं कि छूट गए और कवियों की रचना में चाहे रस हो भी, तो पद और भाव इतने क्लिष्ट होते हैं कि बिना थोड़ी देर सोचे रस नहीं मिलता।

प्रतिभा केवल कविता ही में नहीं, वरन् और कितनी बातों में भी अपना प्रभाव जमाए हुए है। यहाँ के प्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा में चित्रकारी की अद्भुत शक्ति प्रतिभा ही का परिणाम है। योरप तथा एशिया के कईएक प्रसिद्ध विजयी सीज़र, हानिबाल, सिकंदर, नेपोलियन बोनापार्ट, समुद्रगुप्त, रणजीतसिंह आदि सब प्रतिभा-शाली थे, और उनकी प्रतिभा युद्ध-कौशल की थी। बुद्धदेव, शंकर, रामानुज, गुरु नानक, स्वामी दयानंद, ईसा और महम्मद आदि सब प्रतिभावाले महापुरुष थे, और उनकी प्रतिभा नया-नया धर्म चलाने में थी। बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि यह प्रतिभा बराबर वंश-परंपरा तक चली गई है। हमारे यहाँ जो एक-एक पेशेवालों की अलग-अलग एक-एक जाति क़ायम कर दी गई है, उसका यही हेतु है कि उस जाति के मनुष्य में उस पेशे की प्रतिभा बराबर दौड़ती आती है। किसी-किसी में वह पूर्ण रीति से झलक उठती है, और उतने अंश में यत्किंचित् चित्तवृत्ति-विशेष प्रतिभा ही कही जायगी। मनुष्य में प्रतिभा का होना पुनर्जन्म का बड़ा पक्का सबूत है। क्या कारण कि एक ही शिक्षक दो बालकों को पढ़ाता है, एक में प्रतिभा-विशेष रहने से वह बात, जो गुरु बतलाता है, उसे अवश्य आ जाती है, और उस विद्या में वह विशेष चमकता है। दूसरे को गुरु की बतलाई हुई बात आती ही नहीं, आई भी, तो देर में और अधिक परिश्रम के उपरांत। तो निश्चय हुआ कि एक का पूर्व संस्कार, जो अब प्रतिभा के नाम से बदल गया है, स्वच्छ और विमल था और दूसरे का मलिन था, इसी से प्रतिभा उसमें न आई। "अल्पायासं महत्फलम्" अर्थात् "परिश्रम

२०—प्रतिभा

प्रतिभा बुद्धि का वह गुण और मनुष्य में वह शक्ति है, जो स्वाभा-
विक होती है और अभ्यास से अधिक-अधिक बढ़ाई जा सकती
है। काव्य-रचना इसकी कसौटी है। यह कहना कि बिना प्रतिभा
के कवि होता ही नहीं, सर्वथा सुसंगत है। प्रतिभाहीन मनुष्य
अभ्यास के बल से दो-चार पद गढ़ ले, तो गढ़ ले, किंतु प्रतिभा न
होने से वह निरी गढ़ंत रहेगी, रस उसमें कहीं से न टपकेगा।
साहित्य-दर्पण में—

"काव्य रसात्मकं वाक्यम्"

यह काव्य का लक्षण उस गढ़ंत में सुघटित न होगा। प्रतिभा में
भी तारतम्य है। कालिदास में जैसी प्रतिभा थी, वैसी भवभूति,
भारवि और श्रीहर्ष में न थी। सूर, तुलसी, विहारी में जो प्रतिभा
थी, वह केशव, मतिराम, भूषण और पद्माकर में न थी। शेक्सपियर
और मिल्टन के समान अँगरेज़ी के और कवियों में प्रतिभा कहाँ है?
आधुनिक कवि टेनिसन की रचना चाहे अधिक गंभीर और शिक्षाप्रद
(Instructive) हो, पर वह रस उनके काव्य में नहीं टपकता,
जैसा शेक्सपियर की रचना में है। अस्तु, प्रत्येक कवि की प्रतिभा का
तारतम्य एक जुदा विषय है, जिसे हम कभी अलग दिखावेंगे। यहाँ
केवल प्रतिभा का स्वरूप-मात्र दिखलाने का हमारा प्रयत्न है। फिर
भी इतना यहाँ सूचित किए देते हैं कि प्रतिभा का प्रसाद-गुण के
साथ बड़ा घनिष्ट संबंध है। कालिदास की प्रतिभा, जो सबसे अधिक
मानी गई, सो इसीलिये कि उनकी रचना प्रसाद-गुण-पूर्ण है। कविता
में प्रसाद-गुण हास-रस के तुल्य है, जो स्थान में [illegible]

२१—माधुर्य

'माधुर्य' इस प्रकार के स्वाद को कहते हैं, जो मिठाई या मिठास के नाम से ग्रहण किया जाता है। यद्यपि और भी रस हैं; पर मिठास का जो कुछ मनोरम असर मनुष्य के चित्त पर होता है, वह और दूसरे रसों में नहीं होता। इसी से चित्त को प्रसन्न करनेवाले दूसरे रस भी मधुर या मीठे कहे जाते हैं। देहाती लोग अपनी बोली में कहते हैं—"ज्वार के रोटी भल मिठात है।" तो निश्चय हुआ कि जो मन को भावे या रुचे, वह मिठास है। तब माधुर्य से तात्पर्य यह हुआ कि जो चित्त को कड़ुआ न मालूम हो—चाहे उसका ज्ञान हमको पाँच इंद्रियों में से किसी भी इंद्रिय के द्वारा हुआ हो—वह मीठा कहलावेगा। कोई अच्छी सूरत, जो नेत्र को सुहावनी मालूम हुई, तो कहते हैं, इसकी रूप-माधुरी चित्त को खींचे लेती है। जो बात कान को भली लगी, जैसा बालकों की तोतली बोली या किसी का प्यारा वचन, तो उसे मीठा वचन कहते हैं। जैसा कहा भी है—

> कागा काको धन हरै, कोयल काको देय,
> मीठो बचन सुनायके, जग अपनो कर लेय।

इसी तरह मंदार, मालती, चमेली, जूही आदि की सुगंध को मीठी सुगंध कहते हैं। चंपा, केवड़ा, बेला आदि कई फूलों की महक को कर्कश या कड़ी महक कहते हैं; इसीलिये कि थोड़ी देर में उससे जी ऊब जाता है और फिर उसे अधिक सूँघने को जी नहीं चाहता। मिठास के जहाँ और सब गुण या सिफ़तें हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसके चिरकाल और निरंतर सेवन से भी जी नहीं ऊबता; बल्कि यही मन होता है कि वह और भी अधिक मिलती जाय, तो अच्छा

थोड़ा, फल बहुत अधिक" यह बात प्रतिभा ही में पाई जाती है। छात्र-मंडली में बहुत-से ऐसे पाए जाते हैं, जो थोड़े परिश्रम में बड़े दार्शनिक पंडित और कवि हो जाते हैं; पर बहुत-से ऐसे होते हैं, जो घोख-घोखकर थक जाते हैं; पर अंतःपात या बोध यथावत् नहीं होता। गीता में भगवद्विभूति को गिनाते-गिनाते भगवान् ने कहा—

"हे अर्जुन! अब हम कहाँ तक तुमसे अपनी विभूति गिनाते रहें। जिस मनुष्य में कोई बात असाधारण और लोकोत्तर पाओ, उसे भगवद्विभूति ही मानो।" यह लोकोत्तर चमत्कार प्रतिभा ही है, जिसे कृष्ण भगवान् ने अपनी विभूति कहा है। धन्य हैं वे, जिनमें किसी तरह की प्रतिभा है। सफल जन्म उन्हीं का है।

कठिन हों। वीर, बीभत्स तथा रौद्र-रसों में जब अक्षर बड़े विकट और कड़े हों, और लंबे-लंबे समास हों, तभी माधुर्य पैदा होता है। जैसे भौंरा फूल का रस चूस मतवाला हो जाता है, वैसे ही नागरिक जन (ग्रामीण हल जोतनेवाले नहीं) जिसे सुन मतवाले-से हो उठें, वह रस है। बस, माधुर्य का मुख्य कारण यही है। किसी का मत है—

"पृथक्पदत्व माधुर्यम्।"

अर्थात्—अलग पदों का होना माधुर्य है। जैसा—

"श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते।"

अथवा—

"अपसारय घनसार कुरु हार दूर एव कि कमलै,
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिश बाला।"

साहित्य-दर्पणकार माधुर्य का लक्षण यह देते हैं—

"चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।"

अर्थात्—चित्त के पिघलानेवाले मानसिक भावों से जो एक प्रकार का आनंद चित्त में हो, वह "माधुर्य" है। यथा—

लताकुञ्ज गुञ्जन्मदवदलिपुञ्ज चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्ग द्रुततरमनङ्ग प्रबलयन्,
मरुन्मन्द मन्द दलितमरविन्द तरलयन्
रजोवृन्द विन्दन् किरति मकरन्द दिशि दिशि।

उत्तम नायक या नायिका का एक अलंकार भी माधुर्य है। जैसा—

"संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्य परिकीर्तितम्।"

अर्थात्—क्षोभ या घबराहट पैदा करनेवाली बात के होने पर भी चित्त में उद्वेग न होना माधुर्य है। और भी—

"सर्वावस्थाविशेषेपि माधुर्य रमणीयता।"

हो। इसी तरह हम भाग्य दुःख में कोमल, चित्त और सुखद है, उसे मधुरता कहते हैं। महाकवि भवभूति ने स्पर्श-सुख की स्थिति को "उत्तर-चरित" के कई श्लोकों में बहुत अच्छी तरह पर दिखाया है। यथा—

> विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
> प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
> तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
> विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च।

जिह्वा के द्वारा जिस मधुरता का अनुभव हम करते हैं, वह प्रत्यक्ष ही है। किसी भाँग-घुटने वाले मस्त या मथुरा के चौबे से इस मधुरता के बारे में पूछ लो, जिनका सिद्धांत है—'जिसे भाँग न रुचता हो, उसकी मानवता में कुछ कसर समझना चाहिए।' प्रसाद, ओज, माधुर्य, कविता के इन तीन गुणों में माधुर्य भी एक है। कोकिलकंठ जयदेव की कविता गीतगोविंद, आदि से अंत तक, माधुर्य-गुण-विशिष्ट है। माधुर्य का गुण दंडी ने काव्यादर्श में इस तरह पर दिया है—

> मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ;
> येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।

अर्थात्—जिस वाक्य में रस टपकता हो, वह मधुर है। वाक्य से जो अर्थ प्रतिपादित होता है, उसमें भी रस रहता है। शृंगार, करुणा और शांत-रस में माधुर्य, समास का न होना है, या समास हो भी, तो बहुत थोड़े और छोटे-छोटे दो या तीन पद के हों; पर अक्षर सब कोमल हों, टवर्ग आदि मूर्द्धन्य वर्ण न हों। जयदेव के काव्य में ये सब गुण हैं। इसलिये गीतगोविंद माधुर्य का पूर्ण उदाहरण है। हास्य, अद्भुत तथा भयानक रस में माधुर्य तभी आता है, जब ग, ज, द, ब

२२—आशा

हमारे यहाँ के ग्रंथकारों ने 'काम' को मनसिज कहा है। यदि मनसिज-शब्द का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि "मन में उत्पन्न हुए भाव", तो हमारी समझ में 'आशा' से बढ़कर मीठा फल देनेवाली हृदय की विविध दशाओं में से दूसरी कोई दशा नहीं हो सकती। यद्यपि हमारे यहाँ कवियों ने 'स्मर' की दस दशा माना है, किंतु हम शास्त्रों की छोड़ मोटे ढंग पर ध्यान दें और मान लें कि 'काम' या तो उस पशु-बुद्धिरूपी मोहांधकार का नाम है, जो मनुष्य के सत्य, नम्रता आदि गुणों की मीठी रोशनी का नाश कर देता है, और जो इस दशा में मनुष्य-जाति का कलंक है, अथवा यह संसार के सब संमय और मर्ममय प्यार-भाव का नमूना है, तब भी हम यह नहीं कह सकते कि इन ऊपर लिखे हुए काम के दो रूपों के पाश में उतने लोग फँसे हों, जितने स्वेच्छया आनंद-पूर्वक अपने को आशा के पाश में बाँधे हुए हैं। 'काम' एक रोग है, जिससे चाहे थोड़ा-सा सुख भी मिलता हो, पर उस रोग के रोगी इसकी दवा अन्यत्र ही ढूँढ़ते हैं। पर 'आशा' को देखिए, तो यह स्वयं एक ऐसे बड़े भारी रोग की दवा है, जिसकी दूसरी दवा सोचना असंभव है। वह रोग नैराश्य है, जिससे दारुणतर क्लेश की दशा मनुष्य के चित्त के लिये हो ही नहीं सकती। इसवास्ते जो हमारे यहाँ की कहावत है कि—

"आशा हि परम दुःख नैराश्य परम सुखम्।"

यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि वर्ष के भिन्न-भिन्न मौसिमों की तरह मनुष्य के हृदय में भी तरह-तरह की दशाओं का दौरा हुआ करता है और उसमें भी ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर इत्यादि

अर्थात्—कैसी ही अवस्था में होकर भी जो मन को लुभावे, वह माधुर्य है—जैसा शकुन्तला के रूप-वर्णन में कालिदास ने लिखा है—

> सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
> मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
> इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
> किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

माधुर्य का यह विवरण तो यह है, जो कवियों ने निश्चय कर रक्खा है। अब लौकिक बातचीत में जो बात मृदुता-पूर्वक की जाती है, उसमें भी मिठास का शब्द लगाया जाता है। जैसा मीठा बैर, मीठी पुरी, मीठी नींद। नींद में भला क्या मीठापन होगा? किंतु बड़ी देर तक मेहनत के उपरांत लेट गए, एक झपकी-सी आ गई, सब थकावट दूर हो गई, शरीर स्वस्थ और फिर परिश्रम करने को तरो-ताज़ा हो गया। वह "मीठी नींद" कहलाई। इससे तात्पर्य यह निकला कि जो संतोष के बोधक या सुखद पदार्थ हैं, उन सबों में मधुर या मिठास का प्रयोग किया जाता है। तो निश्चय हुआ माधुर्य जगत्कर्ता की अद्भुत शक्ति है, जिसके द्वारा सात्त्विक भावों का उद्गार मनुष्य के चित्त पर हुआ करता है। बल्कि यों कहा जाय, तो ठीक हो कि न केवल सात्त्विक ही, बल्कि राजसिक और तामसिक का भी जो उत्तमोत्तम भाग या सारांश है, वह मिठास या माधुर्य के नाम से कहलावेगा; क्योंकि कड़ुए और तीते में भी जो रुचे और अत्यंत स्वादिष्ट हो, वह भी तो "मिठास है"—ऐसा कहा जाता है। इत्यादि ऊहापोह से निश्चय हुआ कि इस दृश्य-जगत् में जो इंद्रियों को प्रलोभनकारी और मन का आकर्षक हो, वह माधुर्य है।

क्या झूठी आशा में भी किसी को कुछ दुःख हो सकता है? क्या झूठी आशा से वैराग्य अच्छा है? नहीं नहीं, सच पूछिए, तो ऐसी कोई वस्तु संसार में है ही नहीं, जिससे वैराग्य अच्छा हो, बल्कि वैराग्य से बढ़कर बुरी दशा मन के वास्ते कोई है ही नहीं। यदि आशा केवल मृग-तृष्णा ही है, तब भी यह ना उम्मेदी से अच्छी है। इस आशा-रूपी प्रबल वायु से हृदय-रूपी सागर में जो दूर तक की तरंगें उठती हैं, उन तरंगों की अवधि नज़र में नहीं आ सकती। संसार-मात्र इस आशा की रस्सी से बँधा हुआ है। इसे हम कई तरह पर सिद्ध कर चुके हैं।

अब आगे चलिए, स्वर्ग या बैकुंठ क्या है? मनुष्य के हृदय में भाँति-भाँति की लालसा और आकांक्षा का केवल साक्षी-मात्र। वास्तव में स्वर्ग है या नहीं, इसका तर्क-वितर्क इस समय यहाँ हम नहीं करते। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्वर्ग-शब्द की सत्ता ही मनुष्य के लिये प्रबल आशा का सबूत है; क्योंकि जब इस बात को सोचकर चित्त दुःखी होता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा ठीक न्याय चाहिए, वैसा इस संसार में नहीं देखते, तो उसी

ऋतु एक दूसरे के बाद आते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि नैराश्य-विकट शीतकाल की रात्रि के बाद आशा ही रूपी ऋतुराज के सु-का उदय होता है। हृदय यदि प्रमोद-उद्यान है, तो उसका पूर्ण सुख आशा ही रूपी वसंत ऋतु में होता है।

क्या ईश्वर की महिमा इसमें नहीं देखी जाती कि दुखी-से-दुखी जनों का सर्वस्व चला जाने पर भी आशा से उनका साथ नहीं छूटता! यदि मान और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी चीज़ है—जिसको उसके भक्त धन के चले जाने पर भी, अपने गाँठ में बाँधे रहते हैं—तो सोचना चाहिए कि वह कितनी प्रिय वस्तु होगी, जो दैवात् प्रतिष्ठाभंग होने पर भी मनुष्य के हृदय को ढाढ़स और आराम देती है। आशा को यदि मनुष्य के जीवन-रूपी नौका का लंगर कहें, तो ठीक होगा; क्योंकि जैसे बड़े-से-बड़े तूफ़ान में जहाज़ लंगर के सहारे स्थिर और सुरक्षित रहता है, वैसे ही मनुष्य भी अपने जीवन में घोर विपत्तियों को झेलता हुआ आशा के सहारे स्थिर और निश्चलमना बना रहता है। मनुष्य के जीवन में कितना ही बड़ा-से-बड़ा काम क्यों न हो, उसके करने की शक्ति का उद्भव या प्रसव-भूमि यदि इस आशा ही को कहें, तो कुछ अनुचित न होगा; क्योंकि किसी बड़े काम में आशा से बढ़कर बुद्धिमत्ता की अनुमति देनेवाला और कौन मंत्री होगा? मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बुद्धिमानों ने विविध भावनाओं के अभिनय की केवल रंगभूमि माना है। परदे के पीछे से धीरे धीरे वह शब्द बतला देनेवाला, जिससे हम चाहे जो पात्र बने हों और चाहे जिस रस के नाटक का अभिनय अपने चरित्र द्वारा करते हों, उसमें दृढ़ता-पूर्वक लगे रहते हैं, इस आशा के अतिरिक्त दूसरा और कौन (Prompter) है? और भी यदि संसार को भिन्न-भिन्न कलह की रण-भूमि मानें, तो उस अपरिहार्य रण-भूमि में घायलों के घाव पर मरहम रखनेवाला अर्राह आशा ही को

चित्त के लिये स्वर्ग के सुखों के द्वारा समझानेवाली आशा को छोड़ और दूसरा कौन गुरु है ? आशा ही एक हमारा ऐसा सच्चा सुहृद है, जो लड़कपन से अंतकाल तक साथ देता है, और आशा ही के द्वारा उत्पन्न वे भाव हैं, जो हमको मरने के बाद की दशा के बारे में भी सोचने को रुजू कराते हैं।

हमको कुछ ऐसा मालूम होता है कि अपने में आशा की दशा चाहना ही मनुष्य के हृदय की प्राकृतिक दशा है। ध्यान देकर सोचिए, तो नैराश्य की अवस्था मनुष्य के जीवन में केवल क्षणिक है। नैराश्य के भाव मन में उदय होते ही चट आशा का अवलंबन मिल जाता है। कितने थोड़े समय के लिये आदमी नैराश्य को जी में जगह देता है, और कितनी जल्द फिर उसको निकालकर बाहर फेंक देता है। सिर्फ़ यही बात इसका पक्का सबूत है कि प्राकृतिक हित मनुष्य का आशा ही में है। आशा ही वह घुट्टी है, जिसे खाकर आप जो चाहें, वह काम करिए, शिथिलता और आलस्य आपके पास न फटकने पावेगा ; क्योंकि यह असंभव है कि आशा मन में हो, फिर भी मनुष्य सिर नीचा किए हुए रंज में बैठा रहे। आशा की उत्तेजना यदि मन में भरी है, तो ऐसी कातर दशा आने ही न पावेगी। इससे यदि आशा ही को आदमी की ज़िंदगी का बड़ा भारी फ़र्ज़ मानें, तो कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि हम देखते हैं कि आशा ही के विद्यमान रहने पर हम अपने सब फ़र्ज़ों को पूरी-पूरी तरह से अदा कर सकते हैं। पर इसी के साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सामान्य आशा को अपने जीवन की दशा के लिये अपना साथी रखना और बात है; पर किसी एक बात की प्राप्ति की आशा पर अपने जीवन-मात्र के सुख को निर्भर मानना दूसरी बात है। पहले रास्ते पर चलने से चाहे जीवन में हमें सुख का सामना हो या दुःख का, हम दोनों में एक-सा... किन

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चा-मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता के उमंग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है। विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबावालों के आँसू के एक-एक बूँद की क्या क़ीमत है, यह वही जान सकता है। वह शशोपंज में पड़ आगे को पाँव रख फिर हटा लेता है। वीर और करुणा—ये दो विरोधी रस अपनी-अपनी ओर से उमड़-उमड़ देर तक उसे किं-कर्तव्यता-मूढ़ किए रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आता है, जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी ? प्रकृति ने चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा संबंध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल मदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं, तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं, उनकी बैल-सी बड़ी-बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे संबंध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा—

> "कोटि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न,
> कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन।"
> दृग निगोड़े नैन ये, गहै न चेत-अचेत,
> हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँसि देत।

मृतक के लिये लोग हज़ारों-लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्रें संगमरमर या संगमूसा की बनवा देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, ज़मुर्रद से आरास्ता उन्हें करते हैं; पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आँसू के क़तरे टपकाकर पहुँचाते हैं!

अर्थात्—लक्ष्मी जब आती हैं, तो ऊपर से कुछ नहीं मालूम होता, पर भीतर-भीतर मनुष्य अंतःसारवान् होता जाता है। जैसे नारियल के फल में पानी; ऊपर से कुछ नहीं मालूम होता, पर भीतर उसके दूध-सा पानी भरा रहता है—पर जब वे जाती हैं, तब हाथी के निगले हुए कैथे की भाँति मनुष्य खुक्ख हो जाता है—हाथी को कैथा दो, तो वह साबित-का-साबित निकल जाता है और वैसा ही समूचा लीद कर देता है, पर भीतर उसके गूदा बिलकुल नहीं रहता। लक्ष्मी की कृपा होते ही यावत् काम सब आरंभ हो जाते हैं—मकान भी छेड़ दिया जाता है—ज़मींदारी भी खरीदी जाने लगती है—लड़की-लड़कों के ब्याह में भी ऊँची-से-ऊँची बरतूत होने लगती है। पर धन जाते ही उसके सब काम ऐसे ही अधकचरे पड़े रह जाते हैं, जैसा गरमी के दिनों में क्षुद्र नदियाँ सूखके

२४—लक्ष्मी

पुराणों में लिखा है कि लक्ष्मी का स्वरूप चतुर्भुज है तथा वे कमलासन पर सुशोभित उल्लू पक्षी को अपना वाहन किए हुए हैं। उनके यश और शक्ति का वारापार नहीं है। यद्यपि कईएक महात्माओं ने लिखा है कि लक्ष्मी और सरस्वती का विरला साथ होता है अर्थात् जो सरस्वती के कृपापात्र होते हैं, वे बहुत कम लक्ष्मी के भी कृपापात्र होते हैं; पर बहुधा सरस्वती के पूर्ण कृपापात्र लक्ष्मी की परवा नहीं करते। उनको इच्छा तो इसके आने की अवश्य होती है, पर कठिनाई यह है कि हर तरह की लक्ष्मी को वे स्वीकार नहीं करना चाहते और शुद्ध रीति पर जैसा वे चाहते हैं, वैसा इसका आगमन होना दुष्कर-सा रहता है। यदि लक्ष्मी महारानी ने कृपा भी की, तो वे लोग उसको वैसा प्यार नहीं करते, जैसा उसके मुख्य कृपापात्र एक-मात्र भक्त उसका आदर करते हैं। उनका कथन यह है—"माता! तुम्हारे रहने ही-मात्र से कुछ उपकार और फ़ायदा नहीं, बरन्—

मेरे कर पैठा करो, जित चाहो तित जाव।"

अर्थात्—मेरे हाथ में पहले आओ, जिससे मैं जो चाहूँ, सो मुझे मिल जाय। मेरे हाथ से गुज़रकर तब तुम जहाँ चाहे, वहाँ जाओ, मैं तुम्हें क़ैद कर नहीं रखना चाहता, संसार के कौन-से पदार्थ हैं, जो तुम्हारे द्वारा नहीं मिल सकते, तब तुम्हें क़ैद कर रखने में कौन-सा बड़ा लाभ है। हाँ, उन मनहूसों की तो बात ही निराली है, जिन्हें तुमको क़ैद कर रखने ही में मज़ा मिलता है।

कवि कहता है—"लक्ष्मी, तुम मूर्ख के पास जाती हो, पढ़े लिखे विद्वानों से तुम्हें क्यों ईर्ष्या है, जो वहाँ नहीं जाती?" तब लक्ष्मी जवाब देती है—"हमें विद्वानों से कोई ईर्ष्या नहीं है, न हम चंचला हैं—मूर्खों को जो हम धन देती हैं, उसका कारण यह है कि विद्वानों का तो सब लोग मान और प्रतिष्ठा करते हैं, मूर्खों को कौन पूछता, यदि हम भी उनके पास न जातीं।"

ऐसी ही लक्ष्मी और सरस्वती के संवाद में अनेक कल्पनाएँ कवियों ने की हैं। उनमें यह एक बड़ी उत्तम है—

> "विद्वांसः कृतबुद्धयः सखि मम द्वारि स्थिता नित्यशः
>
> श्रीमन्तोऽपि मया विना पशुसमा नास्मादहं श्रेयसी।
>
> श्रीवाग्देवतयोरमूनि वचनान्याकर्ण्य वेधास्तयोः
>
> दूरे श्रेयसि रम यदि भवेदेको विवेको गुणः।"

लक्ष्मी सरस्वती से कहती हैं—"सखि, विद्वान् पढ़े-लिखे मेरे कृपापात्रों के द्वार पर नित्य हाथ पसारे खड़े रहते हैं।" तब सरस्वती ने कहा—"हाँ ठीक है, पर श्रीमंत भी मेरे न रहने से पशुतुल्य देखे जाते हैं, तब हमीं न अच्छी हुई।" इस तरह पर विवाद के उपरांत दोनों ने ब्रह्मा को पंच बदा। ब्रह्मा दोनों की बात सुन देर तक सोचने के उपरांत बोले—"तुम दोनों ही अच्छी हो, यदि एक विवेक-गुण रहे तो—अर्थात् विवेक-शून्य न तो लक्ष्मी का कृपापात्र अच्छा, न सरस्वती ही का।"

बुरा-से-बुरा काम—जिसका करनेवाला राजा के यहाँ से दंड पाने योग्य होता है, और जो समाज में अत्यंत घृणित है—उसे भी धन के लिये करते लोग ज़रा नहीं सकुचाते। इसी से उर्दू के नामी शायर सौदा का कौल है—

> "[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible],"

फ़ारसी के एक दूसरे शायर का भी ऐसा ही कौल है—

रह जाती हैं। बहुधा देखा गया है, लक्ष्मी के आने के साथ शूर सूरता, तरहदारी और कुलीनता भी बढ़ती जाती है और लक्ष्मी के जाने के साथ ही ये तीनों घट जाती हैं।

बहुधा देखने में आया है कि लक्ष्मी का एकांत-भक्त चित्त का उदार नहीं होता। उसको इनसे ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह इनको किसी तरह पर अपने पास से नहीं हटने देता। मसल है— "मर जैहौं तोहिं न भुजैहौं।" वह लक्ष्मी को यहाँ तक आँखों के ओट नहीं किया चाहता कि चाहे सब कुछ चला जाय तथा जीवन से भी वियोग हो जाय, किंतु धन का वियोग उसे न होने पावे। सूम के पास लक्ष्मी क्यों जाती है, इस पर किसी कवि ने कहा है—

"शूरं त्यजामि वैधव्यादुदारं लज्जया पुनः,
सापत्न्यात्पण्डितमपि तस्मात्कृपणमाश्रये।"

अर्थात्—शूरवीर के पास मैं इसलिये नहीं जाना चाहती कि वह जब अपनी जान पत्ते पर रक्खे हुए लड़ाई में प्राण खोने को उद्यत है, तो उसके जीने का कौन ठिकाना, सब मुझे वैधव्य का दुःख सहना होगा। उदार के पास भी जाते लज्जा होती है कि उदार मुझे सबके सामने फेंका करता है। पंडित के पास इसलिये नहीं जाती कि वहाँ मेरी सौत सरस्वती गाज रही है। इसी से मैं कृपण का सहारा लेती हूँ कि वह मुझे आदर से रक्खेगा।

दूसरी बात यह भी देखी जाती है कि धनी बहुधा मूर्ख होते हैं, सो क्यों—इसको भी किसी कवि ने बड़ी उत्तम रीति पर दर्शाया है—

"पद्मे मूढजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरो
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्मि मूर्खे रता;
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि नितरां तत्कारणं श्रूयताम्
विद्वान्सर्वजनेषु पूजिततनुर्मूर्खस्य नान्या गतिः।"

२४—श्रीशंकराचार्य और गुरु नानकदेव

ये दोनों हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध पुरुषों में अन्यतम और बड़े महात्मा हो गए हैं। पंजाब में जैसे गुरु नानकदेव माननीय हैं, वैसे ही दक्षिण तथा महाराष्ट्र-देश में श्रीशंकराचार्य माने जाते हैं। मूर्त्ति-पूजा के विरोधों को बदलनेवाले और ईश्वर की निर्गुण उपासना के पोषक दोनों थे। किंतु शंकराचार्य जाति के ब्राह्मण थे, इसलिये ब्राह्मणों के तरफदार थे, जिससे ब्राह्मणों की जीविका में बाधा न पहुँचे, पंचायतन-पूजा अर्थात् विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति की पूजा और आराधना फिर से स्थापित की, और बौद्धों को इस देश से निकलवा दिया। इसके विरुद्ध नानकशाह ने ब्राह्मणों का ज़ोर बहुत ही तोड़ दिया, और नाम के माहात्म्य को अधिकाधिक बढ़ाया। सच भी है— नाम-संकीर्तन में लगा हुआ, चित्त का शुद्ध, सीधा-सादा मनुष्य कुटिलचित्त, त्रिवेदी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। शंकर पूर्ण विद्वान् तथा वेदान्त-दर्शन के प्रवर्तक थे। ये उस समय हुए, जब मुसलमानों का ज़ोर न बढ़ने से संस्कृत का पठन-पाठन देश में पूरी तरह जारी था, और देश के हरएक प्रांत में मंडन मिश्र के समान नामी पंडित विद्यमान थे। उस समय शंकर ही का-सा विद्वान् प्रतिष्ठा पा सकता और सर्वमान्य हो सकता था। दूसरे यह कि बौद्ध लोग, जिनके मुक़ाबले शंकराचार्य उठ खड़े हुए, बड़े दार्शनिक थे। शंकर ही का-सा सुयोग्य पंडित उनसे पार पा सकता था। इधर नानक जिस समय और जिस देश में हुए, उस समय और उस देश में मुसलमानों का बड़ा अत्याचार था, चाल-चलन, रीति-बर्ताव, रहन-सहन लोगों के यावनिक हो गए थे; बोली और पहनावे तक में मुसलमानी

छा गई थी। उस समय संस्कृत के पठन-पाठन से कहीं सरोकार न रह गया था। संस्कृत की जगह लोग अरबी व फ़ारसी के बड़े मुल्ला और आलिम होने लगे। ऐसे समय नानक ही-ऐसे अल्पविद्य, किंतु कुशाग्र बुद्धि का काम था कि वे खान-पान के अनेक आचार-विचार पर ध्यान न दे, एक निर्गुण की उपासना के द्वारा हिंदू और मुसलमान दोनों को एक करें। आपस की सहानुभूति और हमदर्दी लोगों में आ जाने की बहुत कुछ उन्होंने चेष्टा की। उसी समय के लगभग जैसा बंगाल में कृष्णचैतन्य महाप्रभु भक्ति और परस्पर के प्रेम के पोषक हो रहे थे और जाति-पाँति के झगड़े को तोड़ रहे थे, वैसा ही पंजाब में गुरु नानक ने जाति-पाँति को फूट की बुनियाद समझ, वर्ण-विवेक को यहाँ तक घटाया कि हिंदू-मुसलमान दोनों को एक कर दिया। हिंदुस्तान के दो प्रांत—बंगाल और पंजाब—जो कुछ-कुछ आगे को बढ़ रहे हैं, यह महाप्रभु कृष्णचैतन्य और गुरु नानक इन्हीं दो महात्माओं के उपदेश का फल है। सारांश यह कि नानक यद्यपि शंकर के-से विद्वान् न थे, किंतु चरित्र की पवित्रता, सौजन्य, आस्तिक्य-बुद्धि में शंकर से किसी अंश में कम न थे।

अब देखना चाहिए कि राजनीतिक विषयों में और मुल्की मामलों में इन दोनों के उपदेश और शिक्षा का क्या फल हुआ। शंकर ने बौद्धों को यहाँ से निकाल शासन की स्थिर शैली में बड़ी खलबली मचा दी और बहुत चाहा कि भारत फिर वैसा ही हो जाय, जैसा वैदिक ऋषियों के समय में था, किंतु भारत उस तरह न होकर आधा तीतर आधा बटेर-सा हो गया। अब इस समय हम लोगों में कर्मकांड-कलाप और वर्णाश्रम, विवाह आदि की जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे सब उस समय की बनी हैं, जब शंकर ने हिंदुस्तान को बौद्धों के हाथ से छुड़ाकर इसका पुनः संस्कार किया और ब्राह्मणों को फिर पूरी ताकत मिली। बौद्धों के [illegible] हो जाने से अपनी

[illegible] तथा रामानुज न हुए होते, तो मुसलमानों को यहाँ कदम रखने में इतनी सुगमता न होती और न युद्ध में इतनी कमज़ोरी पेश आती। सबसे बड़ी हानि शंकर से वेदान्त दर्शन को हुई, जिसके सिद्धान्त बदलकर और-के-और हो गए। वेदान्त के प्रवर्तक व्यासदेव का प्रयोजन वेदान्त-सूत्रों के बनाने का कुछ और ही था। शंकर उसे और ही मतलब पर खींच लाए। व्यासदेव का यह कभी तात्पर्य वेदान्त के प्रचलित करने से न था कि इस प्रकार अकर्मण्यता देश में छा जाय और संसार को मिथ्या मान हम स्वयं ब्रह्म बन बैठें। वरंच इसका तात्पर्य यह था कि हम सुख-दुःख को एक-सा समझ अपना काम करने से न चूकें, तथा स्थिर अध्यवसाय, दृढ़ निश्चय, व्यवसायात्मिका बुद्धि को चित्त में हर समय अवकाश देते रहें; दुःख में घबरा न उठें और सुख में मारे घमंड के फूल न जायँ; संसार को अस्थिर नश्वर मान कर्मयोग में सदा लगे रहें इत्यादि। गुरु नानक-से बुद्धिमान् ने इन सब बातों को सोच-विचार कबीर के सिद्धांतों को विशेष आदर दिया। किसी ख़ास मज़हब या धर्म में जकड़ रहना राजनीतिक तरक़्क़ी का बड़ा बाधक है। जब तक किसी ख़ास धर्म की पाबंदी इसमें लगी रहेगी, तब तक मनुष्य-जाति में साधारण प्रेम, जाति, वात्सल्य, मुल्की तरक़्क़ी के उद्योग में सबके साथ सहमति कभी हो ही नहीं सकती। इसलिये नानक ने हरएक धर्म के बाहरी बनावट

छा गई थी। उस समय संस्कृत के पठन-पाठन से कहीं सरोकार न रह गया था। संस्कृत की जगह लोग अरबी व फ़ारसी के बड़े मुल्ला और आलिम होने लगे। ऐसे समय नानक ही-ऐसे अल्पविद्य, किंतु कुशाग्र बुद्धि का काम था कि वे खान-पान के अनेक आचार-विचार पर ध्यान न दे, एक निर्गुण की उपासना के द्वारा हिंदू और मुसलमान दोनों को एक करें। आपस की सहानुभूति और हमदर्दी लोगों में आ जाने को बहुत कुछ उन्होंने चेष्टा की। उसी समय के लगभग जैसा बंगाल में कृष्णचैतन्य महाप्रभु भक्ति और परस्पर के प्रेम के पोषक हो रहे थे और जाति-पाँति के झगड़े को तोड़ रहे थे, वैसा ही पंजाब में गुरु नानक ने जाति-पाँति को फूट की बुनियाद समझ, वर्ण-विवेक को यहाँ तक घटाया कि हिंदू-मुसलमान दोनों को एक कर दिया। हिंदुस्तान के दो प्रांत—बंगाल और पंजाब—जो कुछ-कुछ आगे को बढ़ रहे हैं, यह महाप्रभु कृष्णचैतन्य और गुरु नानक इन्हीं दो महात्माओं के उपदेश का फल है। सारांश यह कि नानक यद्यपि शंकर के-से विद्वान् न थे, किंतु चरित्र की पवित्रता, सौजन्य, आस्तिक्य-बुद्धि में शंकर से किसी अंश में कम न थे।

(Forms and ceremonies) को तुच्छ समझ तथा नाम-संकीर्तन आदि के द्वारा ईश्वर की ओर भक्ति-भाव और आस्तिक्य-बुद्धि को मुख्य समझ, उसी के अनुसार अपने अनुयायियों को चलने के लिये कहा और अपने शिष्यों को वैसी ही शिक्षा दी। अंत को इसका परिणाम यह हुआ कि गुरु गोविंदसिंह और रणजीतसिंह ऐसे नाम पंजाब में पैदा हुए, और अब तक भी सिक्खों में जैसा क़ौमी जोश है, वैसा तमाम हिंदुस्तान के किसी प्रांत के लोगों में नहीं है।

शंकराचार्य ने पक्षपात और अपने मत की खींच यहाँ तक रक्खी कि वे सर्वसम्मत न हो सके। गुरु नानक के उदार चित्त में न पक्षपात था और न किसी से विरोध या अपने मत की खींच थी। इसलिये न केवल पंजाब-भर में, वरन् और प्रांत के लोगों में भी वे सर्वसम्मत हुए। अस्तु, ये दोनों महात्मा जैसे रहे हों, सर्वथा माननीय हैं; किंतु इन दोनों के मत के फ़क़ीर, संन्यासी और उदासी देश के अकल्याण के बड़े भारी द्वार हैं। अब भी कहीं-कहीं दो-एक संन्यासी ऐसे देखे जाते हैं, जो विरक्ति, त्याग तथा पांडित्य में संन्यास-आश्रम की शोभा हैं। किंतु उदासी तो बहुधा ऐसे ही पाए जाते हैं, जो विषयासक्ति में गृहस्थों के भी कान काटते हैं। उदासी बहुत बिगड़े हुए हैं; संन्यासी आवारगी में कुछ ही उनसे कम हैं। अब तो संन्यासी बनने के लिये केवल गीता की एक पुस्तक पास रहना आवश्यक है, और गुरमुखी अक्षरों से परिचय रखना, जिससे ग्रंथ साहब का पाठ कर ले, उदासी के लिये योग्यता की कसौटी है। ग्रंथ साहब का पाठ करना आता हो, मानो वह गुरु नानक का प्रतिनिधि हो गया। गुरु नानक का हेडक्वार्टर रणजीतसिंह का बनवाया अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर है। शंकराचारियों के प्रधान मठ चार हैं। इनमें से एक 'शृंगेरी मठ' है, जिसके प्रधान हस्तामलकाचार्य थे। शंकर के इन शिष्यों से पुरी, भारती और सरस्वती नाम के इन तीन [illegible]

में एक मठ है। यह मठ शृंगगिरि पर्वत पर है, जो रामेश्वर के रास्ते में मद्रास-प्रांत में है। दूसरा 'शारदा-मठ' है, जो द्वारका में है। शंकर के सबसे सुन्दर शिष्य पद्मपादाचार्य के अधिकार में यह मठ रक्खा गया था। 'तीर्थ' और 'आश्रम' दो संप्रदाय के संन्यासियों के अधिकार में यह मठ है। 'जोशीमठ' नाम का तीसरा मठ हिमालय में बदरी और केदार के रास्ते में कहीं पर है। तोटकाचार्य इसके प्रधान किए गए थे। गिरि, पर्वत, और सागर तीन संप्रदाय के संन्यासी इसके अधिकारी हैं। चौथा 'गोवर्द्धन-मठ' है, जो जगन्नाथपुरी में है। सुरेश्वराचार्य, जो पहले मंडन मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे, इस मठ के प्रधान किए गए। वन और अरण्य दो संप्रदाय के संन्यासी इसके अधिकारी हैं। इन-इन गद्दियों पर अब जो रहते हैं, वे शंकराचार्य कहलाते हैं और जगद्गुरु की उपाधि उन्हें दी जाती है। मुख्य शंकराचार्य महाराज की यह कभी इच्छा न हुई थी कि हम जगद्गुरु कहलावें; किंतु जो अब उस गद्दी पर बैठते हैं, अपने को जगद्गुरु कहते और मानते हैं। मद्रास और बंबई-प्रांत में जगद्गुरु शंकराचार्य का बड़ा ज़ोर है। सामाजिक और धर्म-संबंधी मामलों में बिना जगद्गुरु की व्यवस्था के कोई काम पंचद्राविडों में नहीं हो सकता।

'सौंदर्य-लहरी' आदि अनेक स्तोत्र शंकर के नाम से प्रचलित हैं, पर वे मुख्य शंकर के बनाए नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि ये जगद्गुरु शंकराचार्य उत्कृष्ट पंडित होते आए और हैं भी। "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म" तथा "अयमात्मा ब्रह्म", ये चार महावाक्य इन चार मठों के अलग-अलग माने गए हैं। शंकराचार्य के प्रधान शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, तोटकाचार्य, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानकंद, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीचि, कृष्णदर्शन, बुद्धिवृद्धि, विरंचिपाद, शुद्धानंत, आनंदगिरि, सुधन्वाराजा, कविराज राजशेखर इत्यादि थे। इसमें संदेह नहीं, बौद्धों के उपरांत शंकराचार्य वर्तमान

हिंदू-धर्म के बड़े पोषक हुए। ये न हुए होते, तो देश-का-देश या तो बौद्धमतावलंबी बना रहता या सब-के-सब यवन(मुसलमान) हो जाते। गुरु नानक की भी तेरह गद्दियाँ हैं, उनके जुदे-जुदे पंथ हैं। इनके दस, अवतार माने गए हैं। चेलों में सबसे मुख्य सुथरा था।